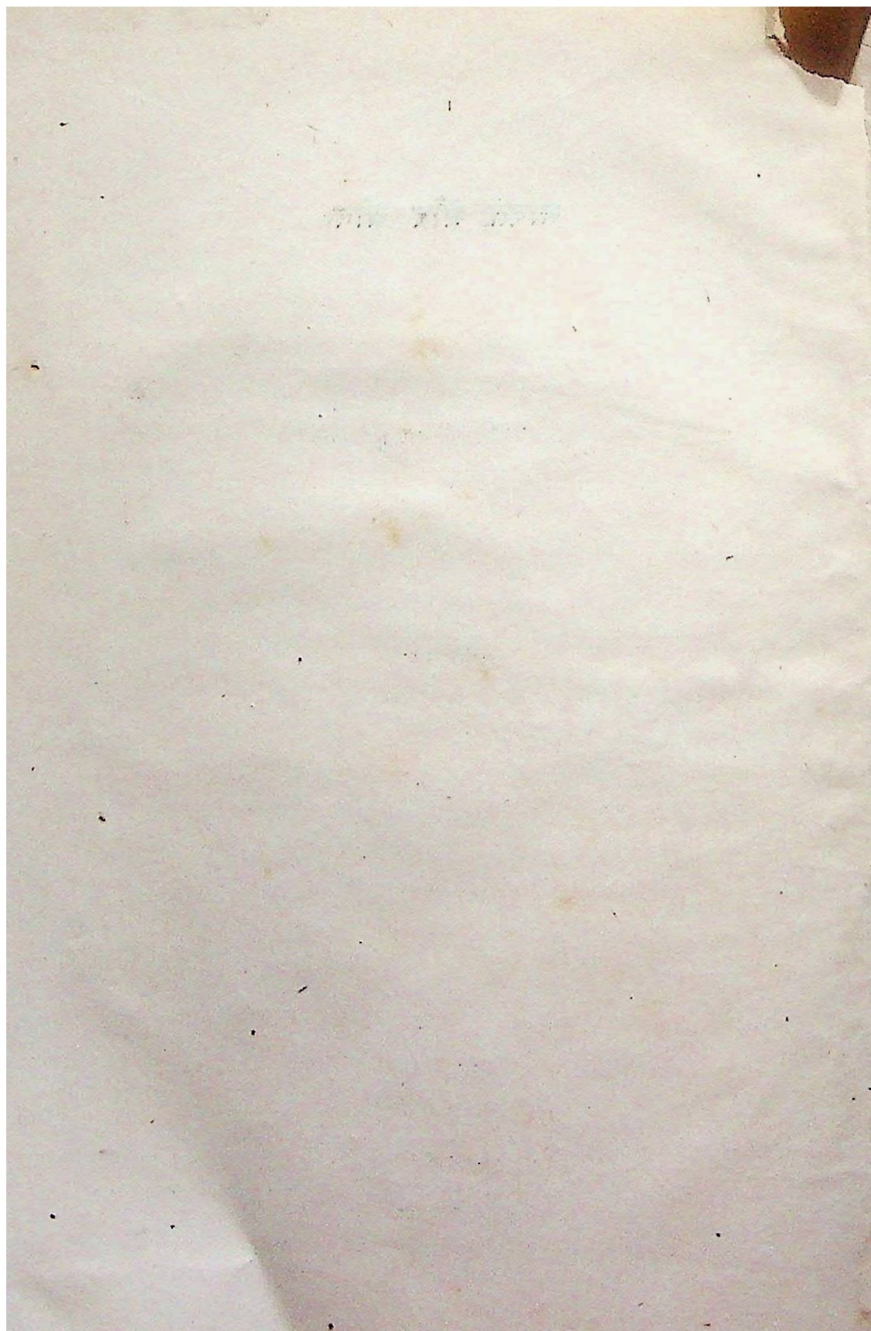
भारत और चीन

डॉ॰ राधाकृष्णन्



भारत और चीन



भारत और चीन

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
उप-राष्ट्रपति, भारत

अनुवादक
गंगारत्न पांडेय

१९५६
अशोक प्रकाशन
लखनऊ

प्रथम हिन्दी संस्करण मार्च, १६५६

मोनोटाइप १२ पॉइंट में
अशोक प्रेस, लखनऊ ने कम्पोज़ किया;
साहित्य मन्दिर प्रेस, पवन प्रेस और भार्गव प्रेस लखनऊ ने मुद्रण किया

विषय-सूची

यह अनुवाद

पथ-प्रदर्शन ही नहीं, अनुगमन भी एक विशेष क्षमता की अपेक्षा रखता है। भाव-विदग्ध ज्ञान-पूत मंगल-वाणी का उद्घोष सामान्य जिह्वा की सामर्थ्य नहीं है। पर ऐसे उद्घोष का अनुवाद भी अत्यन्त कठिन होता है। अनुवादक की व्यक्तिगत अक्षमता से अनुवाद के स्वर-शिथिल व व्यंजन-कटु हो जाने का अत्यधिक भय रहता है। डाक्टर राधाकृष्णन् जैसे विश्व-विख्यात तत्त्वदर्शी मनीषी के इन प्रवचनों और सम्बन्धित परिशिष्टों का अनुवाद करते समय मेरा मन अपनी अल्पज्ञता और असमर्थता के बोध से निरन्तर अभिभूत रहा है। जितनी शीघ्रता से जिन परिस्थितियों में यह अनुवाद करना पड़ा है उनसे भी इस काम में मेरी कठिनाइयों की ही वृद्धि हुई है। पर, काम आ पड़ने पर, भूलों और असफलताओं के भय से, उससे मुँह नहीं मोड़ा जाता। सो, यह अनुवाद आपके सम्मुख है। मेरा विश्वास है कि मेरी असमर्थता और अक्षमता की छाप इस पर है। हाँ, अपनी ओर से इतना अवश्य कहना है कि यथाशक्ति और परिस्थितियों के अनुसार यथा-सम्भव अनुवाद पूर्ण सत्य-निष्ठा के साथ किया गया है। सम्भव है यथोचित समय मिल पाता तो और अधिक सन्तोष-पूर्वक यह अनुवाद आपके सम्मुख में रखता। फिर भी सहृदय और विचक्षण पाठक मेरी भूलों में न भरम कर, मूल-लेखक के उद्बोधन और सन्देश का मर्म अपनायेंगे, यही मेरी कामना और आशा है।

मूल पुस्तक में कुछ अतुकान्त कविताएं उद्धृत हैं। इनमें से अधिकांश चीनी कविताओं का अँग्रेजी उल्था है। इन सब कविताओं का

अनुवाद हिन्दी में भी कविताओं में ही किया गया है। अनुवाद में मूल के छन्दों का अनुकरण नहीं किया गया। कुछ और भी सामान्य सुविधायें ली गई हैं। आशा है पाठक इस प्रयास से असन्तुष्ट न होंगे।

यह अनुवाद करते हुए मुझे समय-समय पर अपने कालेज के उप-प्रधानाचार्य आदरणीय श्री निर्मलचन्द्र जी चटर्जी से बहुमूल्य परामर्श मिलता रहा है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

गंगारत्न पाण्डेय

कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ
महाशिवरात्रि, २०१२।

१

भूमिका

निमंत्रण

१९४२ में एक प्रस्ताव आया कि मैं चुंगकिंग जाऊँ। इस यात्रा का उद्देश्य चीन की सरकार को रवीन्द्रनाथ टैगोर का एक चित्र भेंट करना तथा महाबलाधिकृत च्यांग-काई-शेक द्वारा उसका उद्घाटन कराना था। पर अगस्त-विद्रोह तथा अन्य कठिनाइयों के कारण यात्रा का विचार छोड़ देना पड़ा; यद्यपि टैगोर का चित्र भेज दिया गया और उसका उद्घाटन हो गया। यह चित्र 'चीनी-भारतीय समाज' (सिनोइंडियन सोसाइटी) के चुंगकिंग-स्थित भवन में एक केन्द्रीय स्थान पर सुशोभित है। भारतीय और चीनी संस्कृतियों के नवीन और पुनरुज्जीवित सहयोग का यह चित्र प्रतीक है। इस वर्ष मार्च के महीने में चीन की सरकार ने फिर निमंत्रण भेजा और प्रार्थना की कि अप्रैल और मई महीनों में मैं पांच-छः सप्ताह चीन में बिताऊँ। मैंने मई मास में दो या तीन सप्ताह चीन में बिताना स्वीकार कर लिया। वास्तव में मैंने पूरे १५ दिन चुंगकिंग में और उसके आस-पास बिता दिये। विश्वविद्यालयों, विद्वत्-समाजों और बौद्ध तीर्थ-स्थानों को देखता रहा। लगता है कि मेरी चीन-यात्रा का यह समय अच्छा न

था। चीन की परिस्थिति जटिल और निराशाजनक थी। राष्ट्रवादी दल (कोमिनतांग) और कम्यूनिस्टों के बीच मत-भेद बहुत तीखा हो गया था और चीनी प्रतिरोध की शक्ति में बाधा डाल रहा था। होनान प्रान्त में आक्रमण पूरी तेज़ी से चल रहा था। चीन बहुत व्यस्त था और इसीलिए बहुत-से लोग महसूस कर रहे थे कि सांस्कृतिक उद्देश्य और सन्देश लेकर चीन जाने के लिए यह समय उपयुक्त था भी, या नहीं। लेकिन कुछ और कारणों से मेरा मन इस प्रस्तावित यात्रा के पक्ष में हो गया था। मुझे एक प्रकार की लज्जा-सी थी कि योरोप तो मैं आधे दर्जन बार घूम आया था लेकिन सुदूर पूर्व जाने का एक भी अवसर न निकाल पाया था। पश्चिम की भाषा, पश्चिम के साहित्य, धर्म और वैज्ञानिक ज्ञान के सम्बन्ध में भारतियों को पूर्व की भाषा, साहित्य आदि की अपेक्षा कहीं अधिक ज्ञान है। चीन की यह अव्यवस्थित परिस्थिति ही सम्भवतः एक मैत्रीपूर्ण यात्रा के लिए उपयुक्त अवसर थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कठिनाइयों ने चीन की ज्वलन्त आध्यात्मिक शक्ति को मुक्त कर दिया है। हर दिशा में, सब कहीं, एक रचनात्मक निर्माणमूलक उत्साह के लक्षण दिखाई दे रहे थे। विविध प्रकार के--पूर्वी और पश्चिमी परम्परागत और क्रान्तिकारी--सैन्य दलों और शक्तियों के संघर्षों से मानव-चेतना जाग्रत् हो गई है। इस उद्बुद्ध चेतना का भविष्य अभी अनिश्चित है। भारत भी ऐसी ही जाग्रति के युग से गुज़र रहा है। वाह्य संस्थाओं के पतन को देखते हुये इसी जाग्रति से कुछ संतोष मिलता है। और इसके अलावा आज हम जिन कठिनाइयों को झेल रहे हैं वे उन परीक्षाओं के सम्मुख कुछ भी नहीं हैं जिनमें सदियों पहले पर्वतों और सागरों को पारकर चीन जाने-वाले हमारे पूर्वज तपकर निकले थे। सांस्कृतिक सहयोग की सिद्धि में

उन्होंने जो प्रयत्न किये थे वही आज हमारे लिए प्रेरणा दे रहे हैं। इसलिए मैंने यह यात्रा की, इस उद्देश्य से कि चीन के विश्वविद्यालयों की यह मेरी प्रदक्षिणा हमारे दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ बनाने में कुछ सहायता दे।

चीन के विश्वविद्यालय

विचार विश्व को गति देते हैं। कार्य विचार का अनुगामी है। चीन की शिक्षा-संस्थायें ही वे केन्द्र हैं जहाँ नवीन चीन का निर्माण हो रहा है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान परम्पराओं के बन्धन से मानव-मस्तिष्क को मुक्त करने की अपेक्षा करता है, एक नवीन सरल भाषा के विकास की प्रस्तावना करता है--ऐसी भाषा जो सार्वजनिक शिक्षा का सफल प्रभाव-पूर्ण साधन बन सके और जो एक नवीन संस्कृति के विकास का प्रभाव-पूर्ण माध्यम बन सके। इस पुनरुत्थान को गति दे रहे हैं विश्वविद्यालयों के नेतागण। ये विश्वविद्यालय चीन की राष्ट्रीयता के गढ़ हैं; और इसीलिए चीन के शत्रुओं की विशेष कृपा भी इन पर रही है। अधिकृत चीन के शिक्षक और विद्यार्थी अपने ऐतिहासिक शिक्षा-पीठों से बाहर निकाल दिये गये हैं--जिस धरती में उनकी जड़ें थीं उससे उखाड़ फेंके गये हैं। वे लोग स्वतंत्र चीन चले गये हैं। वहाँ बड़ी कठिनाइयों, शारीरिक असुविधाओं को झेलते हुये ये लोग अद्भुत लगन से काम कर रहे हैं। विशाल आलीशान इमारतें नहीं हैं, साधन-सम्पन्न प्रयोग-शालायें नहीं हैं और न अच्छे पुस्तकालय ही हैं। काम चलाऊ बाँस और मिट्टी की बनी हुई झोंपड़ियों में कक्षायें लगती हैं। मेजें और कुर्सियां चीड़ के तख्तों की बनी हुई हैं। विश्वविद्यालय अध्यापकों और

विद्यार्थियों का समाज है, उनकी संस्था है और ऐसा समाज, ऐसी संस्था बराबर जीवित रहती है, भले ही उन अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा काम में लाई जानेवाली इमारतें मिट्टी में मिला दी जायँ। विश्व-विद्यालयों के जिन विभागों को उनके पुराने आवासों से निकाल बाहर किया गया था वे अब एकत्र हो गये हैं और यह एक बहुत बड़ी सफलता है। ग़रीब होकर हम फिर से सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं, बीमार हों तो फिर से स्वास्थ्य-लाभ कर सकते हैं, लेकिन अगर हम मर गये तो धरती पर कोई शक्ति नहीं जो फिर से हमें जीवित कर सके। चीन के विश्वविद्यालयों का यह लक्ष्य है कि चीन की आत्मा जीवित रहे। मेरा ऐसा अनुभव है कि चीन के जो शिक्षक सदियों से सामाजिक जीवन में बड़ी ऊँची प्रतिष्ठा पा रहे थे, आज बहुत अधिक कष्ट झेल रहे हैं। चीन में विद्वान् ही अधिकारी वर्ग में होते हैं। बहुत-से राजदूत और कूटनीतिज्ञ विश्वविद्यालयों के शिक्षकों में से हैं। बर्लिन-स्थित भूतपूर्व चीनी राजदूत इस समय 'केन्द्रीय राजनीतिक प्रतिष्ठान' (सेंट्रल पोलिटिकल इन्स्टीट्यूट) के प्रधान हैं। अध्यापकों का वेतन बहुत कम है। उन्हें वही वेतन मिलता है जो युद्ध के पहले की परिस्थिति में मिलता था और आज बहुत ही अपर्याप्त हो गया है। थोड़ी-सी वृद्धि जो उनके वेतन में की गई है वह न कुछ के बराबर है, खासकर यदि हम आवश्यक पदार्थों के मूल्यों में होनेवाली वृद्धि का विचार करते हैं। मेरा विचार है विद्यार्थियों को भी पर्याप्त भोजन नहीं मिलता और शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों ही आर्थिक संकट से परेशान हैं। सुख और सुविधा का जीवन उनके लिए स्वप्न हो गया है और सुरक्षा उनके लिए हँसी है।

फिर भी युद्ध विश्वविद्यालय की भावना और विद्यार्थियों की

संख्या-वृद्धि को रोकने में सफल नहीं हो सका। मुझे मालूम हुआ है कि चीन के विश्वविद्यालयों में इस समय जितनी विद्यार्थियों की संख्या है उतनी पहले कभी नहीं रही। सहशिक्षा का तो नियम ही है। लड़के और लड़कियाँ स्वतंत्र और प्रफुल्ल जीवन में साथ-साथ काम करते हैं। इस स्वतंत्रता और निर्बन्ध जीवन से उनके बीच किसी प्रकार की उच्छृंखलता या स्वेच्छाचारिता नहीं पनपने पाई। उन्मुक्त प्रेम और साहचर्य-परिणय की चर्चा चाहे जितनी हो पर अधिकांश नवयुवक और नवयुवतियाँ शरीर और मन से स्वस्थ और स्वच्छ दिखाई देती हैं। निस्सन्देह अवांछित घटनायें होती हैं और प्रवाद भी फैलते हैं, पर इनकी संख्या अमेरिका और ब्रिटेन के सुप्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में होनेवाली ऐसी घटनाओं की संख्या से अधिक नहीं मालूम पड़ती। साधारणतः सहशिक्षा वहाँ सफल ही हुई है। अभी कुछ समय पहले तक चीन में महिलाएँ घर की चहारदीवारी में बन्द थीं और उनकी शिक्षा उनके पारिवारिक जीवन में ही होती थी। बहुपत्नीत्व और माता-पिता की संरक्षकता हर महिला को पति और परिवार की चिन्ता से मुक्त रखती थी। चीन में महिलाओं को सार्वजनिक जीवन, व्यवसाय और शिक्षित आजीविकाओं से अलग रखा जाता था। अब क़ानून के द्वारा एकपत्नीत्व की प्रतिष्ठा की गई है और युद्धकालीन परिस्थितियों ने कुछ ऐसी आजादी दी है जिससे एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का विकास सम्भव हो सकेगा।

विश्वविद्यालयों के मानदण्ड ऊँचे हैं। यद्यपि वर्तमान परिस्थितियों में विज्ञान के विभिन्न विभागों में बहुत काम नहीं किया जा सकता है फिर भी आज चीन को विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान की अधिक आवश्यकता है। चीन की शिक्षा में साहित्यिक अभिरुचि का बहुत

प्रमुख स्थान है। सदियों से चली आती कन्फ्यूशियन दीक्षा इसके लिए उत्तरदायी है। अभी क्रान्ति के बाद ही से वैज्ञानिक शिक्षा की ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया गया है। चीन की विज्ञान-परिषद् (साइंस सोसाइटी आफ़ चाइना) की स्थापना १९१४ में हुई थी। चीनी विद्वत्परिषद् (एकेडीमिया सिनीका) की अनेक अन्वेषण-शाखाएँ हैं जो साहित्यिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकार के विषयों में शोध-कार्य करती हैं।

युद्ध समाप्त हो जाने के बाद चीन को एक महान् अवसर मिलेगा कि बमों से ध्वस्त अपने नगरों और विश्वविद्यालयों का पुनर्निर्माण करे और संसार के सम्मुख सिद्ध कर दे कि अब भी उसमें वह कल्पना-शक्ति और संकल्प-शक्ति शेष है जिसने प्राचीन काल में स्थापत्य और अन्य कला-क्षेत्रों में आश्चर्यजनक निर्माण किये थे। एक अमरीकी यात्री इटली के एक नगर से दूसरे में घूमता रहा और कौतूहल एवं प्रशंसा भरी दृष्टि से कला की अद्भुत कृतियों को देखता रहा तथा अपनी यात्रा के अन्त में अपने मार्ग-दर्शक से पूछा--"कहिये, यह सब तो अद्भुत है, सब अतीत की महान् कृति है, लेकिन······पिछले सौ वर्षों में आप लोगों ने क्या किया है ?" यह प्रश्न जितना आश्चर्यजनक था उतना ही निरुत्तर करनेवाला भी।

खेती के सम्बन्ध में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया। एक पुरानी चीनी कहावत है--"किसान होने के लिए अध्ययन करने की ज़रूरत नहीं है, किसान बनना है तो जैसा पड़ोसी करता है करो।" गई-बीती पीढ़ियों के पुराने तरीक़ों का मोह, व्यापक व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण और सहकारिता की भावना की कमी ने खेती में उन्नति नहीं होने दी। अगर फ़सल बढ़ाने के तरीक़ों को अपनाना है तो खेती के तरीक़ों

को भी आधुनिक रूप देना होगा। देश के अतुल खनिज साधनों का विकास नहीं किया गया। चीन राष्ट्र मूल्यांकन की क्षमता रखता है। वह युद्ध के बाद खेती की उन्नति के लिए पर्याप्त धन व्यय करने को तैयार होगा। चीनी लोगों का मस्तिष्क तात्त्विकरूप से व्यावहारिक है। वे तत्त्व और तथ्य की बात करते हैं, इसीलिए आधुनिक वैज्ञानिक तरीक़ों को अपनाने और अंगीकार करने में सब सफल होंगे।

विश्वविद्यालयों का वातावरण उत्साह से भरा हुआ है। विद्यार्थी-समाजों और परिषदों में रात में बहुत देर तक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, राजनीतिक कल्पनादर्शों और अनन्त विभेदों के सम्बन्ध में विवाद चला करते हैं।

सभी शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों को चीनी क्रान्ति के सिद्धान्तों से परिचित कराया जाता है। प्रति सोमवार को प्रातः ११ बजे विद्यालयों के विद्यार्थी और शिक्षक राष्ट्र-ध्वज को सलामी देते हैं, डाक्टर सन यात-सेन के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं जिन्होंने चीन की क्रमिक विशृंखलता को रोका, लोगों में एकता की भावना उत्पन्न की और उनके राष्ट्रीय आत्म-सम्मान को बचाया; इस अवसर पर डाक्टर सन यात-सेन द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों को दुहराया जाता है। चीन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पुनरुज्जीवन के लिए बनाई गई डाक्टर सन यात-सेन की योजना[1] समूचे चीन राष्ट्र को पसन्द

---

[1] सैन मिन चू प्रथम के तीन सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:--

(अ) जन-जाति अथवा राष्ट्रीयता का सिद्धान्त। जातियों का विकास नैसर्गिक शक्तियों से हुआ है। नैसर्गिक शक्ति राजशक्ति (वँग-ताओ) है। इस राजशक्ति से निर्मित समुदाय जाति है, राष्ट्र है। जातियों और राष्ट्रों का निर्माण करनेवाली नैसर्गिक

आई है। राष्ट्रवादी चीन, साम्यवादी और वांग चिंग वी के अनुयायियों ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है, यद्यपि वे इन सिद्धान्तों की

शक्तियाँ हैं रक्त, आजीविका, भाषा, धर्म तथा परम्पराओं और आदतों की एकता। राष्ट्रीयता वह अमूल्य निधि है जो एक राज्य को अपने विकास और एक जाति को अपने अस्तित्व की अविच्छिन्नता के लिए प्रेरित और समर्थ करती है।

(ब) लोकतंत्र या प्रजातंत्र का सिद्धान्त। किसी भी संगठित और एकता में बँधे जन-समुदाय को एक जाति कहा जाता है। 'प्रभुसत्ता' क्या है? प्रभुसत्ता राज्य के क्षेत्र पर व्याप्त अधिकार और शक्ति है। जब जाति और प्रभुसत्ता का गठबन्धन हो जाता है तब जनता की राजनीतिक शक्ति का जन्म होता है। सरकार जनता की वस्तु है। यह जनता द्वारा जनता का नियमन है। और यह नियमन समस्त जनता के हित के लिए है; और जहाँ समूची जनता सरकार का नियमन करती है वहाँ जनता की प्रभुसत्ता दिखाई देती है।

(स) जनता की आजीविका का अथवा समाजवाद का सिद्धान्त। मिन्शेंग का अर्थ है जनता की आजीविका, समाज का कल्याण, जनजीवन; और आजीविका के सिद्धान्त का लक्ष्य है जनता की उदर-पूर्ति की समस्याओं को हल करना। आजीविका की खोज सामाजिक विकास के नियमों के अनुकूल है। यही तो इतिहास की केन्द्रीय शक्ति है। उदर-पूर्ति की समस्या जनता की आजीविका की समस्या है। जनता की आजीविका को सुधारने के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना होगा—(१) भूसम्पत्ति का समानीकरण और (२) अर्थ-सम्पत्ति का नियमन—चीन की राजकीय सूचना-समिति, चुंगकिंग, द्वारा प्रसारित An Outline of the Organization of the Kuomintang and the Chinese Government (1940), से उद्धृत।

विविध व्याख्यायें करते हैं। कुछ दलगत संस्थायें हैं जो महाबलाधिकृत च्यांग काई शेक के प्रत्यक्ष नियंत्रण में काम करती हैं; जैसे, केन्द्रीय शिक्षण-शिविर (सेण्ट्रल ट्रेनिग कॉर्) और केन्द्रीय राजनीतिक प्रतिष्ठान जिन्हें राष्ट्रवादी दल चलाता है। ऐसे आलोचक भी कम नहीं हैं जो इन्हें सैन्यीकरण का साधन मानते हैं। अकृपालु विदेशी कहते हैं कि महाबलाधिकृत प्रजातंत्र की अपेक्षा कार्य-कुशलता अधिक पसन्द करते हैं और अल्पमत की राय को कुचल दिया जाता है और कुछ संस्थायें तो बन्दी-शिविरों से किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं। राष्ट्रवादी शासन को प्रजातंत्र के सिद्धान्त से असंगत कहा जा सकता है, इस सिद्धान्त से जो डाक्टर सन यात-सेन के तीन सिद्धान्तों में से एक है और जिसके अनुसार शासन-संस्थाओं का जनता द्वारा निर्वाचित और प्रजातान्त्रिक ढंग से नियंत्रित रहना आवश्यक है। राष्ट्रवादी दल ने एक प्रस्तावित संविधान तैयार किया है जिसके द्वारा युद्ध के बाद वे चीन में प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं और जिसमें ऐसी आधुनिक राजनीतिक धाराओं को शामिल किया गया है जैसे उपक्रम (इनीशियेटिव) और ऐसे मंत्रियों की प्रत्याहूति (रिकॉल) जिन्होंने जनता का विश्वास खो दिया हो। इस समय तो विद्यार्थियों और अध्यापकों में विचारों का कठोर नियंत्रण किया जाता है। वर्तमान सरकार द्वारा प्रेरित जापान की प्रतिरोध-भावना के अतिरिक्त और किसी बात को जनप्रिय नहीं कहा जा सकता। चीनी लोगों को इस बात की शिक्षा मिली है कि वे अपने आपको एक महान् परिवार के सदस्य समझें और इसलिए व्यापक क्षेत्रों में संगठित कार्य करने की शक्ति कम है। परिवार के प्रति यह मोह व्यापारिक संस्थाओं, सैनिक मामलों और शासन के क्षेत्र तक में दिखाई देता है। यह आलोचना तो

बिलकुल सामान्य है कि एक या दो परिवार सत्तारूढ़ हैं और वे ही देश पर शासन करते हैं। एक नवजवान लड़की से जब चीन का मानचित्र खींचने को कहा गया तो उसने अर्थमंत्री डाक्टर कुंग का चित्र खींच दिया! और फिर भी क्षितिज पर दूसरे नेता नहीं दिखाई दे रहे। क़ानून उनके द्वारा बनने चाहिए जिन्हें उन क़ानूनों का पालन करना है। एक ऐसी सरकार ही शासन कर सकती है, उच्च स्तरों पर फैले भ्रष्टाचार को समाप्त कर सकती है, जान-माल की सुरक्षा कर सकती है और नई संधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से उत्पन्न कर्तव्यों का पालन कर सकती है जिसका नियंत्रण प्रजातान्त्रिक ढंग से किया जाता हो। उन सभी राष्ट्रों में प्रजातंत्रीय संस्थायें सामान्यतः काम नहीं कर पातीं जो युद्ध में व्यस्त हैं। इस बात की पूरी-पूरी आशा है कि जैसे ही युद्ध समाप्त होगा चीन में भी ये संस्थायें काम करने लगेंगी।

चीन में धर्म

चीन को चीनी भाषा में 'चुंग को' कहा जाता है, जिसका अर्थ है मध्यम राज्य। मेन्शियस का कहना है कि "कन्फ़्यूशियस ऐसे व्यक्ति थे जो अतिवाद से दूर रहते हैं।"[१] मध्यम कार्य-प्रणाली (मीन इन ऐक्शन) चीनी मान्य ग्रन्थों में से एक है। बौद्ध धर्म में मध्यम मार्ग को अपनाया गया है; और चीन ने बौद्ध धर्म को अपनाया है। स्वभावतः चीन के लोगों में किसी प्रकार के अतिवाद पर विश्वास नहीं है। अपने विचारों में चीनी लोग दुराग्रही या मतान्ध नहीं हैं। धर्म

---

[१] IV. 2. X. Analects, XI. 15 देखिये।

एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें लोग बड़ी सरलता से मतान्ध बन जाते हैं, लेकिन चीन का धर्म एक आह्लादपूर्ण ढंग से इस बुराई से मुक्त है। परस्पर छिद्रान्वेषी धार्मिक विवादों के धूम-धुन्ध से चीन का जीवन दूषित नहीं हो पाया। राजनीतिक कारणों से लोगों को ताड़ना दी गई है; लेकिन यह ताड़ना योरोप के धार्मिक युद्धों अथवा धार्मिक परीक्षणों और दण्डों की विभीषिका तक कभी नहीं पहुँच पाई। चीनी लोग रूढ़ सिद्धान्तों के दास नहीं हैं और न वे मानव-प्रकृति की पुकार तथा उसके सक्रिय तर्क और उदार-भाव के प्रति उदासीन ही हैं। तर्क और सद् बुद्धि ने कला, साहित्य और धर्म के क्षेत्र से अन्ध-विश्वास और बरबादी को दूर करने में बड़ी-सफलता पाई है। गम्भीर विषयों पर विवाद करते समय भी चीनी लोगों में विनोद-वृत्ति रहती है। जिन लोगों का विश्वास है कि मृतकों का अस्तित्व नहीं है और इसलिए उनके प्रति बलिदान समय और अन्न का अपव्यय है—उनके इस तर्क पर विचार करते हुये श्री मो-त्सू कहते हैं—"हम यह मान भी लें कि मृतात्माओं का अस्तित्व नहीं है तब भी बलिदान अपव्यय नहीं है। यदि मद्य तथा अन्य वस्तुएँ नाली में बहा दी जायें तब तो हम उसे बेशक बरबादी कह सकते हैं। लेकिन वास्तव में होता यह है कि परिवार के सदस्य और गाँव के मित्र गण सभी अपना-अपना भाग पाते हैं; इसलिए इस बलिदान की प्रथा का सबसे बुरा लाभ इतना तो है ही कि हमें अपने पड़ोसियों से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में मदद मिलती है।"[१] और लीजिए, सन् २६५ ईसवी पूर्व में चिन राज्य के भूतपूर्व

---

[१] Waley: The Way and Its Power (1936), पृष्ठ ३९।

शासक की पत्नी मृत्यु-शय्या पर थीं। उसने वी राज्य के एक अजनबी से अपना गहरा सम्बन्ध बना रखा था। मरने से पहले उसने आदेश दिया कि इस अजनबी को उसकी अन्त्येष्टि के समय बलि चढ़ा दिया जाय ताकि उसकी आत्मा उसे कब्र के बाहर रास्ता दिखा सके। वी राज्य के इस अजनबी के सामने विकट समस्या आ गई। उसकी ओर से एक मित्र ने इस मरती हुई रानी से भेंट की। उसने कहा—"क्या आपको इस बात का विश्वास है कि मृतकों को भी भाव-चेतना होती है?" "मैं तो ऐसा नहीं सोचती।"—उसने कहा। "तो महारानी जी इससे आपका क्या लाभ हो सकता है कि जिस व्यक्ति को आपने जीवन में प्यार किया वह आपके साथ एक ऐसी स्थिति में—एक ऐसे राज्य में—जाय जो चेतना-शून्य है? और इसके विपरीत यदि मृतकों में भाव-चेतना होती है तो भूतपूर्व राजाधिराज क्रोध से पागल हो जायँगे। वह कहेंगे—'यह देखो, यह रानीजी हैं जो महीनों से ज़िन्दगी और मौत के बीच झूला झूल रही थीं, आज वी राज्य के इस पुरुष के साथ पधार रही हैं! निश्चय ही यह इतना बीमार नहीं रहीं जितना इन्होंने अपनी जनता को समझा रखा था'।" रानी ने कहा--"बिलकुल ठीक।" और उसने अपना आदेश वापस ले लिया।[1]

कवि पो चुई ने लाओ त्सू के सम्बन्ध में लिखा है:—

"जो हैं मुखर, मूढ़ हैं वे जन
ज्ञानी मौन बना रहता है।
मुझे बताया है लोगों ने--
ऊपर के ये शब्द कहे थे लाओ त्सू ने।

---

[1] Waley : The Way and Its Power (1936), पृष्ठ ४०।

अब यदि यह विश्वास करें हम--
वह—लाओ त्सू ज्ञान-महिम थे,
तो यह कैसे हुआ कि वे फिर
एक महान् ग्रन्थ लिख बैठे
जिसमें पाँच सहस्र शब्द हैं?...”[१]

चीन के विभिन्न मतों में बहुत कम उद्दंडता या आत्म-प्रसार की भावना है। सन् १९१५–१९१६ में चीन-गणतंत्र के संविधान में एक ऐसी धारा जोड़ने का प्रयत्न किया गया जिसके द्वारा कन्फ़्यूशियन सिद्धान्त को चीन के प्रधान तात्त्विक नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा रहा था; इस धारा को युवान शी-काई का समर्थन भी प्राप्त हो गया था, लेकिन चीन के नये नेताओं ने इस धारा के स्वीकार किये जाने का डटकर विरोध किया और अन्त में यह धारा संविधान से हटा दी गई। इस धारा की स्वीकृति के विरोध में लाये गये तर्कों को श्री चेन तू-श्यू ने इस प्रकार व्यक्त किया है—“शासन और शिक्षा के साधनरूप में सभी धर्म व्यर्थ हैं। इन्हें अतीत युग के अन्य उच्छिष्ट आदर्शों के समान समझना होगा। यदि हम यह भी मान लें कि अशिक्षित लोगों के लिए एक धर्म की आवश्यकता हो सकती है तो अन्य धर्मों की शिक्षाओं की उपेक्षा करना कहाँ तक उचित हो सकता है? यदि हम अन्य धर्मों की उपेक्षा करते हैं और कन्फ़्यूशियस धर्म को ही संविधान में स्वीकृति देते हैं तो हम जनता की धार्मिक स्वाधीनता पर आघात करने के दोषी होते हैं।”[२]

---

१ Waley: A Hundred and Seventy Chinese Poems, E. T. (1923), पृष्ठ १६६।
२ He Shih: The Chinese Renaissance (1934), पृष्ठ ९०।

यह सत्य है कि चीन में कोई गम्भीर धार्मिक पीड़न और उपद्रव नहीं हुये, पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चीन के लोगों में धर्म-भावना में कमी है। विदेशों के चीन जानेवाले यात्रियों को मैंने अक्सर यह कहते सुना है कि चीन के लोग धर्म में बहुत रुचि नहीं रखते, कि वहाँ के विद्वान् लोग संशयात्मा, अनास्थावान् और अनीश्वरवादी तथा नास्तिक भी हैं और नई पौध तो धर्म-विरोधी भी है। कुछ चीनी तो इस बात पर गर्व भी करते हैं। इस प्रश्न के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त स्थिर करना मेरा काम नहीं है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि प्रारम्भकाल में भी चीन के लोगों का धर्म बहुत सरल धर्म था। उस धर्म में अपने पूर्वजों की पूजा, नैसर्गिक शक्तियों और आत्माओं पर विश्वास, परमेश्वर या स्वर्ग की पूजा और दैवज्ञता या शकुन-परीक्षण का अभ्यास भी शामिल था। पुराण और कर्मकांड तो बहुत कम थे।

विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षा-संस्थाओं में अनेक विद्यार्थियों और अध्यापकों से मैं मिला और मुझे ऐसा तो कुछ न लगा कि चीन के नवयुवकों और नवयुवतियों में धर्म के सम्बन्ध में कोई विशेष बात है। समूचे संसार में धार्मिक जीवन का एक नया स्वरूप प्रतिष्ठित होगा, अपेक्षाकृत एक साधारण और अधिक आध्यात्मिक विश्वास। चीन अपने आपको इसके लिए तैयार कर रहा है, जैसे अन्य दूसरे राष्ट्र अपने को प्रस्तुत कर रहे हैं। लेकिन पूजा की जो भावना हम सबके हृदय में गहरे जमी हुई है उसको उखाड़ फेंकने का कोई गम्भीर प्रयास वहाँ नहीं हो रहा है। यह हो सकता है कि चीन के लोग चिन्तनमूलक नैतिकता की समस्याओं के प्रति और व्यक्तिगत मुक्ति के सम्बन्ध में इतने चैतन्य न हों, लेकिन इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि उनमें धार्मिक भावना नहीं है।

फू-तान विश्वविद्यालय में मेरे भाषण का विषय था—'क्या धर्म अनिवार्य है?' मेरे भाषण के बाद विश्वविद्यालय के प्रधान महोदय ने, जो सभा के भी अध्यक्ष थे, मुझे बताया कि कुछ सप्ताह पहले कुछ विद्यार्थियों ने परस्पर ऐसे विषय पर एक विवाद किया था और बहुमत से यह निश्चय किया था कि सैद्धान्तिक, रूढ़ और मतमूलक धर्म तो अनावश्यक है, पर आध्यात्मिक जीवन के रूप में धर्म मानव-जाति के उत्थान के लिए अनिवार्य है। आज हम अपनी वैज्ञानिक सफलताओं, प्राविधिक साधनों और संगठनों पर गर्व करते हैं—आज्ञाकारिता, अनुशासन, निष्ठा और बलिदान-भावना के नैतिक गुण भी हममें पर्याप्त हैं। सामाजिक चेतना आज से अधिक प्रबुद्ध कभी नहीं रही, शान्ति के लिए जन-आकांक्षा आज से अधिक प्रबल कभी नहीं रही, अपने पड़ोसी के प्रति शुद्ध भावना आज से अधिक कभी नहीं रही और फिर भी संसार शक्ति और घृणा के चंगुल में पड़ा हुआ है। संसार आज एक चालकहीन विमान-जैसा हो रहा है। उसमें शक्ति है, गति है, वेग है और मंगल-सिद्धि की सामर्थ्य है लेकिन उसने अपना लक्ष्य खो दिया है। आज हमें जिसकी आवश्यकता है वह न अधिक ज्ञान है और न अधिक संगठन, न वह अधिक अनुशासन है और न अधिक आज्ञाकारिता; बल्कि वह है धर्म की भावना, जीवन के उन परम पुरुषार्थों की स्वीकृति जिनकी सिद्धि के लिए विज्ञान और संगठन, अनुशासन और आज्ञाकारिता का प्रयोग करना है।

यह सौभाग्य की बात है कि चीन का धर्म धर्मवादी नहीं रहा। उसमें रूढ़ सिद्धान्तों का बोलबाला नहीं। वह एक वातावरण है, एक मनोदशा है जिसमें आध्यात्मिक जीवन की यथार्थता पर विश्वास भरा हुआ है—ऐसे आध्यात्मिक जीवन की यथार्थता पर, जो सुख और स्वार्थ या

लाभ-परक सामान्य जीवन से उच्च है। आध्यात्मिक सहनशीलता और समझौते की पृष्ठभूमि में मनोवृत्तियों और मतों के विविध रूप साथ-साथ चलते हैं। चीन के लोगों का दृष्टिकोण वास्तव में सौजन्यपूर्ण है। उनकी यह विशेषता उनके इस विश्वास का परिणाम है कि धर्म का सम्बन्ध तार्किक विवादों से उतना नहीं है जितना जीवन की सक्रिय अभिव्यक्ति से---मनसा-वाचा-कर्मणा के निर्वाह से--है। धर्म की स्थापना तर्क द्वारा नहीं होती, उसकी अभिव्यक्ति जीवन के माध्यम से होती है। विश्वास की प्राथमिकता की ऐसी अभिव्यक्ति, जो दार्शनिक और राह चलते सामान्य मनुष्य सबको अन्तिमरूप से आश्वस्त कर सके, कवियों, दृष्टाओं, सन्तों और रहस्यवादियों द्वारा व्यक्त की जाती है; कोई सुकरात या कोई बुद्ध, कोई यीशु या सन्तपाल सामान्य जनता के हृदय को आश्वस्त और विश्वस्त कर देता है--केवल अपनी सहज सरलता और आत्मप्रेरणा के साथ सुविधामूलक जीवन-पद्धति को अस्वीकार करके। अपने जीवन के द्वारा ऐसे लोग यह सिद्ध करते हैं कि उन्हें अप्राप्य ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस ज्ञान को व्यवहार में उतारने की अविचल शक्ति और साहस उनमें है।

चीन की जनता अधिकांशरूप में धर्म का यह अर्थ नहीं मानती कि तपस्वी का-सा अनुशासन अपनाया जाय, उपवास किये जायँ और इसी प्रकार की शरीर-यातना की अन्य विधियाँ अपनाई जायँ। यदि एक धार्मिक व्यक्ति का लक्षण यह हो कि संसार की अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा वह ईश्वर से अधिक प्रेम करे, या उसके लिए अन्य सबका त्याग करे, सोचे कि जीवन की समस्त मधुरताओं का त्याग अच्छा है यदि केवल ईश्वर प्राप्त हो सके, तो चीन के लोग धार्मिक नहीं हैं। हाँ, उनके बीच भी काफ़ी ऐसी आत्मायें हो गई हैं जो धर्म के इस मान-दंड पर

पूरी उतरती हैं, जिनमें ईश्वर की अविचल लगन है, जिन्होंने कर्म की अपेक्षा चिन्तन में ही अपनी कल्याण-साधना की है, जिन्हें एकान्त जीवन की ही कामना रही है और जिन्होंने सामाजिक पचड़े से अपनी आत्मा को मुक्त करके उसी के उत्थान की चिन्ता की। लेकिन बहुसंख्यक चीनी जनता के लिए तो धर्म का यही उद्देश्य है कि वह एक सौजन्यता, सहनशीलता और सुबुद्धि-पूर्ण मनोवृत्ति का विकास करे। यदि हमारे मनोभावों और विचारों में सामंजस्य है, संहिति है तो हम प्रसन्न रहते हैं; पर यदि वे विशृंखल हैं—अव्यवस्थित हैं तो हम दुःखी रहते हैं। आंतरिक जीवन का विकास मानव-जीवन की पूर्णता का एक तात्त्विक अंग है। जो योगियों का जीवन बिताते हैं उनमें भी हमें वह गुरु-गम्भीर रूढ़ता और कट्टरता नहीं मिलती, जो धार्मिक मतान्धों में मिलती है।

चीन और भारत में धर्म जीवन और अनुभव की वस्तु है, न कि मत और मतांधता की। मनुष्य के अन्तरतम में निहित जो 'स्व' है उसके साथ जिस निगूढ़ सत्ता की एकता है उसी का साक्षात् धर्म का उद्देश्य है। ईश्वर का राज्य—ब्रह्म-लोक—तुम्हारे भीतर ही है—तत्त्वमसि। महात्मा बुद्ध के लौकिक जीवन के अन्तिम क्षणों में आनन्द ने जब उनसे उपदेश की प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि उदारतापूर्वक वे सब कुछ सिखा चुके हैं, गुप्त कुछ भी नहीं रखा; केवल इतना कहना शेष है कि उनकी शिक्षा का सत्यार्थ ही विश्वासी के जीवन का अंग बने। हमें अपनी निगूढ़ आत्मा को ही अपना प्रदीप और अपना शरणाश्रय बनाना है; हमें सत्य-नेत्र—आत्मज्योति—प्राप्त करनी है! प्रसिद्ध भारतीय मनीषी बोधि धर्म ने सिखाया है कि धार्मिक गुण न पुस्तक-ज्ञान है और न सत्कर्म, बल्कि धार्मिक गुण है अन्तर्ज्ञान और अन्तर्ज्योति जो चिन्तन से प्राप्त होती है। जीवन का एकान्त सत्य है बुद्ध-वृत्ति—, धर्म-काया जो प्रत्येक

२

व्यक्ति में हृदयस्थ है। आठवीं शती के एक धार्मिक लेखक श्री लू यॆन (Lu Yen) ने लिखा है—"जब कन्फ्यूशियस कहते हैं कि ज्ञान व्यक्ति को लक्ष्य-प्राप्ति कराता है, या जब बुद्ध उसे आत्म-दृष्टि कहते हैं, या लाओ त्सू उसे अन्तर्दृष्टि, तो उन सबका अर्थ एक ही होता है।"[१] ये लोग किसी शारीरिक तत्त्व की बात नहीं करते जो धार्मिक वक्र-मार्गियों और तापस-योगियों तक ही सीमित रहता है। ये लोग सामान्य बौद्धिक चेतना की सीमाओं से परे चेतन-शक्ति के विकास की बात करते हैं। आत्मा बुद्धि की अपेक्षा विस्तृत है और जब हम बौद्धिक स्वरूपों से परे आत्मिक जीवन की गहराई में धँसते हैं तो हमें आत्मा की स्थिति का बोध होता है और उसकी आकांक्षा उत्पन्न होती है।

धर्म-दृष्टि आत्मा की अनुभूति है और शिक्षा उस अनुभूति की तैयारी। आत्मा की मुक्ति केवल बौद्धिक संकल्प से ही नहीं सिद्ध होती। इसके लिए एक व्यापक और सम्यक् नैतिक प्रक्रिया, स्वभाव का एक गम्भीर परिवर्तन, काम और अहं-भाव की पूर्ण विजय आवश्यक होती है। बौद्धिक तर्काडम्बर—वह चाहे जितनी मात्रा में हो—हमें माया के बन्धन से मुक्त नहीं कर सकता। ऊर्ध्व चेतना का विकास दैवी वरदान की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रयास का फल अधिक है। ईश्वर व्यक्ति-बाह्य नहीं है, वह उसके भीतर ही है और यदि बाधक आवरण दूर कर दिये जायँ तो वह अपने को व्यक्त और प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत है। आत्म-शुद्धि के लिए बलिदानों को भी एक साधनरूप

---

१ Wilhelm: The Secret of the Golden Flower, E.T. (1935), पृष्ठ ३७

में स्वीकार किया गया था। इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि बाह्य क्रियाकलापों को शान्त किया जाय, आत्मा पर के आवरण हटाये जायँ, चेतना के क्रमिकस्तरों को पार करते हुए तब तक आगे बढ़ा जाय जब तक शुद्ध आत्मा तक पहुँच न हो जाय जो हमारे भीतर ही है। इसलिए मुक्तात्माओं के लिए मत और कर्म-कांड बंधन हैं जिन्हें तोड़ना होता है। जिन मूर्तियों को हम पूजते हैं वे भी उस सत्ता के काल्पनिक प्रतीक हैं जिसका न तो पर्याप्त चित्रण हो सकता है और न वर्णन :—

"वे सब तेरी खंड-ज्योति हैं,
खंड ज्योति, बस, और नहीं कुछ!
और देव! तू उन सबसे ही
अतिमहान् है।"

धार्मिक मत तो आत्मानुभूति के साधनरूप में ही अपना महत्त्व रखते हैं और केवल मूढ़ लोग ही उनके सम्बन्ध में कलह मचाते हैं। बोधि धर्म ने ध्यान-योग की शिक्षा दी थी, चीन में उसे 'चान' कहते हैं (जो संस्कृत के 'ध्यान' से बना है) और जापान में उसे जेन मत कहते हैं। इन बोधि धर्म के दो प्रधान चीनी शिष्य थे—हुई-सी और ची-काई। श्री ची-काई ने अपने गुरु से भी आगे बढ़कर एक नवीन पद्धति स्थापित की जिसमें उन्होंने महात्मा बुद्ध के उपदेशों के बाह्य विरोधों में संगति बैठाई। उन्होंने कहा—"मानव-परिस्थितियों की विषमता अत्यधिक है, दार्शनिक सिद्धान्त अनेक हैं, लेकिन लक्ष्य एक है। यह लक्ष्य है बुराई—असत् पर विजय, परम सत्य और शिव की सिद्धि। इसका कोई महत्त्व नहीं कि कौन किस मार्ग से इस लक्ष्य तक पहुँचता है, लक्ष्य-

प्राप्ति ही पर्याप्त है। जो लोग इस तथ्य को नहीं समझते वे ही विभिन्न मतों के उपदेशों की तुलना करते हैं और उन पर विवाद करते हैं, जो इस तथ्य को समझ जाते हैं वे सब मतों को स्वीकार कर लेते हैं और सबको पचा लेते हैं।" चीन और जापान के बौद्ध हीनयान और महायान मतों के ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं और उनके महत्त्व को अंगीकार करते हैं, इस रूप में कि वे पृथक्-पृथक् मनोवृत्तियों के लोगों के अनुकूल हैं और आत्मिक जीवन बिताने के एक सामान्य लक्ष्य तक व्यक्ति को पहुँचा देते हैं। किसी व्यक्ति की धार्मिकता की परख उसकी नैतिक और धार्मिक मान्यताओं की अपेक्षा उसकी आत्मिक सिद्धियों से अधिक की जानी चाहिए। मानव-जाति के अनुभव का एक व्यापक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति मतान्ध बने बिना भी जीवन में एक धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। कोई ज़रूरी नहीं है कि हम किसी खास मत को स्वीकार करें ही; इतना ही पर्याप्त है कि हम जीवित रहें। "जिन्होंने अपने जीवन को आत्मा की अमर वाणी के अनुरूप ढाला है वे ईसाई ही हैं, भले ही हम उन्हें अधार्मिक अविश्वासी कहें"—यह जस्टिन मार्टियर का कथन है।

चीन की जनता कन्फ़्यूशियन मत, ताओ मत और बौद्ध मत में कोई प्रतियोगिता नहीं मानती। वह इन सबको एक-दूसरे का पूरक मानती है। चीन के आध्यात्मिक समन्वयमूलक वातावरण में ये तीनों मत एक-दूसरे से मिल गये और अपने पृथक्-पृथक् प्रभावों से उन्होंने जनता की सामाजिक, रहस्यात्मक और नैतिक आवश्यकताओं को पूरा किया। कन्फ़्यूशियन मत ने कर्म-योग पर जोर दिया, ताओ मत ने रहस्यात्मक या ज्ञान-पक्ष पर जोर दिया और बौद्ध मत ने जनता को एक दर्शन और आचार-शास्त्र दिया जिसने धर्म के इन दोनों पक्षों

को समुचित ढंग से सम्पन्न कर दिया।[1] चूँकि लोग विभिन्न विचारों और वृत्तियों के होते हैं, इसलिए सम्भव है कि वे चीन के धर्म के एक या दूसरे पक्ष पर अधिक जोर दें जो कि वास्तव में इन तीनों मतों का समन्वय है।[2]

---

[1] "सामान्य जनता के बीच ये तीनों धर्म एक-दूसरे का पारस्परिक बहिष्कार नहीं करते। कन्फ्यूशियन मत में एक शान्त विरक्ति से आगे बढ़कर मानव-प्रकृति की आध्यात्मिक अपेक्षाओं की पूर्ति का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस कमी को बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक पक्ष ने पूरा कर दिया है। मृत्यु के बाद आत्मा की अविच्छिन्न सत्ता के सम्बन्ध में कन्फ्यूशियस के अनिश्चय का ताओ मत के निश्चित अमरतावाले सिद्धान्त ने दूर कर दिया। इस प्रकार तीनों मत एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं और तीनों मिलकर मनुष्य की आवश्यकताओं को सम्यक् रूप से पूरा करते हैं; जब कि अलग-अलग प्रत्येक ऐसा नहीं कर पाता। परिणाम यह हुआ है कि जन-जीवन में तीनों के बीच विभेद की कोई रेखा ही नहीं रह गई। सामान्यरूप से हम यह कह सकते हैं कि तीनों मतों के पवित्र तीर्थ-स्थान सबके लिए खुले हैं और सब उनसे लाभ उठाते हैं।"—The Three Religions of China, by Soothill (1929), पृष्ठ १२-१३।

[2] "हम देखते हैं कि कन्फ्यूशियन मत, बौद्ध मत और ताओ मत तीनों को राज-स्वीकृति प्राप्त रही थी; इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्राट् से लेकर छोटे-छोटे अधिकारी तक तीनों ही धर्मों के पवित्र स्थानों में पूजा करते थे। सम्राट और अधिकारीगण देव-स्थानों में पूजा करते थे और उनकी सहायता के लिए दान देते थे, ये देव-स्थान चाहे कन्फ्यूशियन मत के हों, चाहे बौद्ध मत के और चाहे ताओ मत के। राष्ट्र के धार्मिक जीवन को स्थिर बनाये रखना उनका कर्तव्य था और वे इसे इस कर्तव्य-पूर्ति का अंग समझते थे।"—(Ibid., पृष्ठ २२८) और भी "तथ्य यह है कि इन तीनों धर्मों के प्रधान सिद्धान्त और मत एक-दूसरे के इतने निकट आ गये हैं कि वे जनता के चरित्र और उसकी बुद्धि में अविभाज्यरूप से समा गये हैं।"—(Ibid, पृष्ठ २४९)।

एक बड़े भारी दार्शनिक, जो मो-त्सू के अनुयायी हैं, कन्फ्यूशियन आदर्श की अपेक्षा बौद्ध आदर्श को अधिक पसन्द करते हैं। वे कहते हैं—"आओ इन तीनों मतों द्वारा स्थापित और प्रदत्त परम्पराओं पर विचार करें और त्रिद्वद्वर्ग की सैद्धान्तिक क्रियाओं को भी समझें,......उदारता, न्याय और पवित्रता को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है......एक सामान्य विद्वज्जन की यही आचार-पद्धति है लेकिन जिन लोगों ने अनासक्ति को व्यवहारतः अपनाया है वे लोग इसे पसन्द नहीं करते। श्रमण लोग 'मध्यमा प्रतिपदा' और 'विभूति' को अपनाते हैं और इनके लिए सांसारिक सुखों को तिलांजलि देते हैं। वे पवित्रता और विवेक की कांक्षा करते हैं और पारिवारिक जीवन के सुखों से अपने को बचाते हैं। इससे अधिक आश्चर्यमय और क्या बात हो सकती है!" सम्राट् कांग-सी ने पूटो के श्रमणों के नाम एक आज्ञा प्रसारित की थी—"अपने बचपन से ही हम कन्फ्यूशियन मत के श्रद्धालु विद्यार्थी रहे हैं और इस बात का हमें समय ही नहीं मिला कि बौद्ध धर्म के पवित्र ग्रंथों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करें, लेकिन हमें यह जानकर संतोष हुआ है कि इन दोनों ही मतों में 'विभूति' एक सामान्य गुण है जो तात्त्विकरूप से अंगीकार किया गया है। तो हम कृपालु कुआन-यिन (बोधिसत्त्व) से प्रार्थना करें कि वह हमारी जनता पर अपनी कृपा से आध्यात्मिकता का जल और 'मंगल धर्म' की ओस बरसायें; जनता को प्रचुर अन्न, ऋतु-अनुकूल वायु, शान्ति, सौख्य और दीर्घ जीवन के वरदान दें और अंततः उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखायें जिसका द्वार उन्होंने विश्व के समस्त जीवों के लिए खोल रखा है।"[१]

---

[१] Johnston: Buddhist China, पृष्ठ ३५२

चीनी लोगों में भावना की एक ऐसी कोमलता है जो उन्हें आध्यात्मिक विषयों पर तर्क या विवाद करने के लिए अनुत्साहित करती है। आध्यात्मिक विषयों के प्रति उनके हृदयों में एक श्रद्धा-भावना है और इसलिए वे सभी धार्मिक कृत्यों और विश्वासों के प्रति एक तटस्थ, पर श्रद्धापूर्ण, दृष्टिकोण, रखते हैं। चाहे बुद्ध के सम्मान में हों और चाहे कन्फ़्यूशियस के सम्मान में, वे शालीनता और मर्यादा के साथ धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित होते हैं। जैसे अनेक हिन्दू मंदिरों में जाते हैं, वे मंदिर चाहे शैव हों चाहे वैष्णव, वैसे ही अनेक चीनी ताओ और बौद्ध मंदिरों में उपासना करते हैं। अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल वे कन्फ़्यूशियन, ताओ और बौद्ध प्रतिष्ठानों से लाभ उठाते हैं। एक ही दिन और एक ही उद्देश्य से वे विभिन्न पूजा-स्थानों को जाते हैं; जैसे हम अपनी बीमारी में होमियोपैथ, एलोपैथ अथवा आयुर्वेदिक या यूनानी चिकित्सकों के पास जाते हैं। हम अपने विवेक का प्रयोग कर सकते हैं और परिस्थितियों के अनुसार जिसको चाहें उसको चुन सकते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि चीन के लोग तीन धर्मवाले हैं, कन्फ़्यूशियन, बौद्ध और ताओ; और यह कथन बिलकुल ग़लत भी नहीं है। जनता की भाषा में तीनों मतों की बात चलती है और एक सामान्य व्यक्ति अपने जीवन में ऐसे धार्मिक कृत्यों में भाग लेता है जिनमें तीनों ही मतों में विश्वास निहित रहता है। वास्तव में यह मिश्रण इतना पूर्ण हो गया है कि हम पूर्ण औचित्य के साथ एक चीनी धर्म की बात कर सकते हैं, ऐसा चीनी धर्म जिसका अर्थ है सामान्य जनता द्वारा स्वीकृत विश्वासों और धार्मिक कृत्यों का संगठन। फिर भी इस धर्म के प्रति आस्थावान् रहते हुए भी यह सम्भव है कि व्यक्ति इन तीनों में से किसी एक के प्रति उत्साह-वृत्ति रखे और फिर

भी लोग उसे मतवादी न कहें।"[१]

चीन में हम ईसाइयों और मुसलमानों की संख्या तो गिन सकते हैं लेकिन बौद्धों की नहीं। ईसाइयों और मुसलमानों के मत निश्चित और अन्य-वहिष्कारमूलक हैं, लेकिन बौद्ध धर्म ने तो जनता के समूचे जीवन पर, कला और साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है। कर्म अथवा पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार और बौद्ध धर्म के नैतिक उपदेश चीनी लोगों के मानसिक जीवन में घुल-मिल कर तद्रूप हो गये हैं। वहिष्कारमूलक मुक्ति-साधनों और अपने मतों की परमता या श्रेष्ठता पर जोर देनेवाले सेमिटिक या सामी धर्मों के प्रवेश ने चीन के शान्तिपूर्ण धार्मिक जीवन में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न कर दी है। लेकिन चीन की भावना-शक्ति को ये भी डिगा नहीं सके। चीन में ईसाई-धर्म के कुछ नेताओं से मैंने पूछा कि क्या इसकी पुनरावृत्ति न हो सके ऐसी अप्रतिमता और एकान्त श्रेष्ठता पर विश्वास हैं; और उनके उत्तरों से मुझे मालूम हुआ कि यद्यपि उन्हें ऐसे सिद्धान्त सिखाये गये हैं लेकिन चीन के वातावरण में वे इन सिद्धान्तों पर जोर देने के इच्छुक नहीं हैं। चीनी जनता की मनोवृत्ति विभिन्न मतों पर विश्वास रखनेवाले लोगों के लिए एक-दूसरे से मिलना, परस्पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझना और इस प्रकार विकास करना सम्भव बनाती है। जब तक हम संसार के बड़े-बड़े बौद्धिक केन्द्रों में ऐसा करने में समर्थ नहीं होते तब तक वह पारस्परिक सम्मान और ज्ञान नहीं पनप सकता जो उस सामान्य मानवता और सभ्यता की सम्यक् अवधारणा के लिए अनिवार्य है जिसके विकास में अनेक जातियों

---

[१] Eliot : Hinduism and Buddhism, Vol. III (1921), पृष्ठ २२६।

और सम्प्रदायों ने अपना योग दिया है। मनुष्यों में अन्तर केवल उनके वाह्य रूपों में है। प्रत्येक मत का विश्वासी उसी कांक्षा को व्यक्त करता है जो हमें अपने अन्तर्वासी ब्रह्म की सत्ता से प्राप्त होती है। ईसाई देश ब्रिटेन की धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे ने लिखा है--"एक बुद्धिवादी के लिए······यह शुद्ध बर्बरता है कि नवजवान लोगों को एक ऐसी सैद्धांतिक शिक्षा दी जाय कि वे एक ऐसे मानवरूप में व्यक्त परमात्मा पर विश्वास करें जो 'मनुष्य को अपनी ही आकृति में ढालता है' और यहाँ तक कि एक मर्त्य कुमारी से एक पुत्र 'उत्पन्न' करता है! ऐसे विचार भूमध्यसागरीय जातियों के शैशवकाल के हैं। और भी, नैतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से यह एक अत्यन्त दुःख की और भयावनी बात है कि बच्चों को यह पढ़ाया जाय कि जो लोग इन बातों पर विश्वास नहीं करते वे या तो अनन्त काल तक के लिए अभिशप्त हैं, जैसा कि कुछ कट्टर ईसाई मत मानते हैं, और या फिर कम-से-कम भद्र नागरिक बनने में असमर्थ हैं, जैसा कि बी० बी० सी० के कुछ नैतिक वक्ताओं ने हाल में कहा है।"[१] ताओ और बौद्ध मतों को न माननेवाले लोगों की दृष्टि में परम सत्ता अनवधार्य है और मानव-भाषा में उसकी प्रकृति की परिभाषा नहीं दी जा सकती, केवल पौराणिक कल्पनाओं और मूर्तियों द्वारा उसका संकेतमात्र किया जा सकता है। महान् ईसाई रहस्यवादी भी ऐसा ही मानते हैं। ईश्वर को पिता कहकर पुकारना या उसे 'तत्त्वान्तर मित्र' अथवा 'त्राता' बताना एक तथ्य-निवेदन की अपेक्षा रूपक ही अधिक माना जा सकता है। पुराण कल्पनाएँ और रूपक ही ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य

---

१ The Rationalist Annual (1944), पृष्ठ ४।

की सीमित बुद्धि अव्यक्त और अनिर्वचनीय को व्यक्त करती है। सेमिटिक या सामी धर्मों को भी यह विचार स्वीकार करना होगा। अपने धर्म पर अविश्वास करनेवाले को निंद्य और अभिशप्त बतानेवाला सिद्धान्त उन्हें छोड़ना होगा क्योंकि वह भद्र जीवन का सहायक नहीं बल्कि बाधक है, इस दृष्टि से कि उससे घृणा और मतान्धता को प्रसार मिलता है।

सहिष्णुता की भावना एक घटना से लक्षित होती है जिसका वर्णन कुमारी ब्रेन्डन ने किया है।[१] फा युआन सू के मठाधीश से उन्होंने पूछा कि मन्दिर की वेदी के ऊपर उन योरोपीय सिपाहियों के नामों की पट्टिकायें क्यों लगी हैं जो महायुद्ध में मारे गये हैं। उनका प्रश्न था––"क्या आप यह नहीं अनुभव करते कि इनमें कोई भी सिपाही बौद्ध नहीं है?" "हाँ, मालूम है।"––उन्होंने उत्तर दिया, "लेकिन क्या उनके बलिदान की प्रशंसा हमें न करनी चाहिए; और क्या सभी धर्म इस बात में एक-से नहीं हैं कि सभी जीवों का कल्याण उनका उद्देश्य है? अपने ईसाई गिरजाघरों में क्या आप लोग सबकी मुक्ति के लिए प्रार्थना नहीं करते? और क्या आपको उस (प्रार्थना) पर विश्वास नहीं है?" इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देने में कुमारी ब्रेन्डन को संकोच हुआ।

व्यवहार के क्षेत्र में प्रायः सभी चीनी लोग कन्फ्यूशियन आदर्शों को स्वीकार करते हैं, उनके धार्मिक विश्वास चाहे जो हों। पितृ-भक्ति और इतिहास की सबल अनुभूति[२] चीन की संस्कृति-निर्मात्री शक्तियाँ

---

१ Peking (1929) पृष्ठ २१९। quoted in Pratt: The Pilgrimage of Buddhism, पृष्ट ३९५।

२ "हमसे पहिले हमारे पूर्वज जिन स्थानों में एकत्र होते रहे हैं, उन स्थानों में एकत्रित होना; जो कर्मकाण्ड हमारे पूर्वज करते रहे हैं,

हैं। चीन के लोग धरती पर परमात्मा का राज्य निर्मित करने में तत्पर रहते हैं। धर्म के उस स्वरूप से वे अधिक प्रभावित और सम्बन्धित हैं जो जीवन का पुनर्निर्माण करता है और उस गुण या स्वरूप से कम जो जीवन से परे है। यह स्वीकार किया जाता है कि जीवन में तटस्थ वृत्ति या निवृत्ति का विकास स्वाभाविक प्रेरणाओं की पूर्ति करने से होता है। अंतर्ज्ञान प्राप्त करने की शर्त है इच्छाओं, कांक्षाओं और आवेगों से मुक्ति। ये ही हमें दृश्य जगत् से जकड़े रहते हैं। लेकिन यह मुक्ति सहज वृत्तियों की भूख मिटाने से होती है, उस भूख के अकाल कुंठित किये जाने से नहीं। यदि आत्मा के सत्य से साक्षात् करना है तो हमें धरती के विधानों का पालन करना होगा। धार्मिक व्यक्ति का यह कर्तव्य नहीं है कि वह मानव-जाति के सामाजिक यातना और कष्ट-पूर्ण दृष्यों से दूर भागे, उसका कर्तव्य है संसार का

उन्हें करना; जो संगीत वे लोग सुनते और गाते रहे हैं वही संगीत गाना और सुनना; जिनका वे सम्मान करते थे, उनका सम्मान करना; जो उन्हें प्रिय थे, उन्हें प्यार करना; वास्तव में जो दिवंगत हो चुके, उनकी सेवा ऐसे करना मानो वे हमारे साथ जीवित हों—यही सच्ची पितृ-भक्ति और पवित्रता की परम सफलता है।" (देखिये Analects) जब महान् पूर्वज धरती पर शासन करते थे तब कहीं गृह-कलह न थी। पूर्वज ती (Ti) विश्व का शासक है और चीन के सभी मतों, सम्प्रदायों का विश्वास है कि उन्होने उस धर्म-सिद्धान्त 'ताओ' (Tao) को फिर से खोज निकाला है जिसके अनुसार पूर्वज धरती पर शासन करते थे। चीनी लोग अपने नीति-शास्त्रों और सम्प्रदायों का निर्माण करते हैं और हरएक इस बात का दावा करता है कि उसे वह गुप्त कौशल प्राप्त हो गया है जिसके द्वारा पूर्वज लोग अतीत काल में लोगों के जीवन का नियमन करते थे।

परित्राण करना। कनफ़्यूशियस से पहले धार्मिक क्रिया-काष्ठा का प्रधान उद्देश्य था समाज के भौतिक कल्याण की सिद्धि; और राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्र में चीनी जाति की विचारधारा की गति-विधि इसी से परिचालित हुई है। स्वभावत: कनफ़्यूशियस के उपदेश भी इसी वातावरण और तथ्य से प्रभावित और सीमित रहे। सामाजिक मान-महत्त्वों में दीक्षित व्यक्तियों से निर्मित एक सुव्यवस्थित समाज ही उनका आदर्श था। समाज की स्थिरता और उसका स्थायित्व तभी सम्भव है जब उसकी नींव नैतिक सिद्धान्तों पर डाली गई हो। सामाजिक स्थायित्व और शान्ति पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि व्यक्तिगत सदाचार को भी उससे कम महत्त्वपूर्ण मान लिया गया है।[1]

एक धार्मिक व्यक्ति ही सामाजिक प्रयासों और संस्थाओं को दैवी कांक्षाओं का फल मान सकता है। कन्फ़्यूशियस ने उन लोगों के प्रति कुछ तीखे शब्द कहे हैं जो समाज से ऊबकर और निराश होकर उससे बाहर निकल जाना चाहते हैं। "चिड़ियों और जानवरों से मैं अपना सामाजिक सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता और यदि मानव-जाति से मैं अपना नाता नहीं जोड़ सकता तो फिर और किसके साथ जोड़ूँगा।

---

[1] शी के ड्यूक ने कन्फ़्यूशियस से कहा था—"मेरे प्रदेश में एक ऐसा दृढ़ चरित्र व्यक्ति है कि जब उसके पिता ने एक भेड़ चुराई तो उसने उस चोरी का सबूत दिया!" कन्फ़्यूशियस ने उत्तर दिया "मैं जहाँ का रहनेवाला हूँ वहाँ चरित्र की दृढ़ता के सम्बन्ध में लोगों की धारणा दूसरी है। वहाँ पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है और पुत्र अपने पिता की!" पुत्र और पिता के बीच जो तात्त्विक सम्बन्ध है वह व्यक्तिगत पवित्रता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

और यदि संसार में सद्विधान का ही बोलबाला हो तो फिर मुझे उसके सुधार में भाग लेने की आवश्यकता ही न रहे।" यदि समाज में अव्यवस्था है तो बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि उस अव्यवस्था का कारण खोजें और सामान्य जनता को उससे बाहर निकाले। हम आज एक नये विश्व की रचना करना चाहते हैं; और नवीन समाज की रचना हम तब तक नहीं कर सकते जब तक स्वयं अपना नवीन संस्कार न कर लें।

चीन के चतुर्धर्म-प्रतिष्ठान (Association of the Four Faiths--बौद्ध, मुसलमान, प्रोटेस्टेंन्ट और कैथोलिक) की एक सभा में व्याख्यान देने का मुझे एक सुअवसर मिला था;[१] वहाँ मैंने देखा कि विभिन्न विश्वासों या मतों के माननेवालों ने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया कि आज हमें विभिन्न मतों की मैत्री उतनी आवश्यक नहीं है जितनी मतानुयायियों---व्यक्तियों की मैत्री, जो यह अनुभव करें कि विश्व की नैतिक व्यवस्था क़ायम रखने के लिए आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है। यह प्रतिष्ठान ईसाई-मतों या बौद्ध मतों में एकता स्थापित करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि सभी धर्मों को माननेवाले नर-नारियों को यह मनुष्य के आध्यात्मिक परित्राण के महान् अभियान में भागीदार बनने को प्रेरित करता है। इस प्रतिष्ठान में लोग अपने-अपने धर्मों या मतों का मण्डन और अन्य मतों का खण्डन नहीं करते—अपने मत को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश नहीं करते। यदि हम धार्मिक श्रेष्ठता और अप्रतिमता पर उसी तरह जोर देने लगें जैसे राष्ट्रीय प्रभु-सत्ता पर जोर देते हैं तो मानव-

---

[१] परिशिष्ठ ४.

मैत्री का मार्ग अत्यन्त दीर्घ और दुर्वह हो जायगा। "किसी भी देश में ईश्वर साक्ष्य-हीन नहीं रहा" और सभी धर्मों को एक परम आध्यात्मिक सत्ता और शक्ति पर विश्वास है। सर्वेश की सामान्य उपासना में ही विश्व-बन्धुत्व या विश्व-मैत्री की सम्भावना है। सभी धर्मानुयायियों में एक आन्तरिक एकता है। धर्मानुयायियों को जो चीजें विभक्त करती हैं वे उन चीजों की अपेक्षा बहुत कम तात्त्विक हैं जो उनमें एकता स्थापित करती हैं। हम मनुष्यों में से अधिकांश ईसाई या यहूदी, हिन्दू या मुसलमान हैं, इसलिये नहीं कि हम सबने सोच-समझ कर इन धर्मों को अंगीकार किया है, बल्कि इसलिए कि हम इन्हीं में उत्पन्न हुये थे। चीनी चतुर्धर्म-प्रतिष्ठान की इस बैठक में सभी धर्मों के अनुयायियों—ईश्वर पर विश्वास रखनेवालों—से इस बात का आग्रह किया गया था कि वे भाईचारे की प्रेमपूर्ण भावना के आधार पर संसार के सुधार के सामान्य अभियान में लग जायँ। उन सबका विश्वास है कि युद्ध मानव-जाति के विरुद्ध एक पाप है और यह विश्वासी धर्मानुयायियों का कर्तव्य है कि वे मानव-जीवन के रक्त प्रवाह से घृणा के आवेग को निकाल बाहर करें। केवल वैज्ञानिकों, वकीलों, अर्थ-शास्त्रियों और राष्ट्र-नियामकों की अन्तर्राष्ट्रीय बैठकें ही पर्याप्त नहीं हैं। ईश्वर पर विश्वास रखनेवालों का यह कर्तव्य है कि वे समस्त जातियों के मानव-समुदाय में सद्भावना और सौहार्द्य स्थापित करें। संसार को आत्म-शक्ति की आवश्यकता है, उस स्वार्थपरता को नष्ट करने के लिए जिसके वश होकर राष्ट्र-नियामक सार्वजनिक कल्याण की अपेक्षा अपने विशिष्ट स्वार्थों को अधिक महत्त्व देते हैं। यदि हममें एक आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा न हुई तो सामाजिक जीवन के सहस्राब्द भी निष्फल ही सिद्ध होंगे। वर्तमान सुख-सुविधा और शारीरिक मृत्यु से हम सन्तुष्ट

नहीं हो सकते। 'नवजीवन' के आन्दोलन को अपनी स्थिरता के लिए एक आध्यात्मिक विश्वास की अपेक्षा होगी।

जनता

चीन का ज्ञात इतिहास तीस शताब्दियों से अधिक का है। इस इतिहास ने चीन को राजनीतिक एकता भले ही न दी हो, पर सांस्कृतिक अविच्छिन्नता अवश्य दी है। भौगोलिक कारणों और सामाजिक स्वरूपों ने चीन को एक निश्चित जीवन-दर्शन दिया है—एक स्पष्ट और विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप, जो समाज के सभी वर्गों के जीवन में गहरे बैठ गया है। एक पुरानी चीनी कहावत है—"अपना कर्तव्य करो, अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहो, प्रकृति का अनुसरण करो और ऊपरवाले पर विश्वास रखो।" प्रकृति से सामंजस्य में रहना चीनी विवेक का सार-तत्त्व है। चीनी लोगों को सरलता और सुख-सुविधा पसन्द है। वे लोग मनुष्यतापूर्ण और सहिष्णु हैं। परिश्रम और चिन्ता से दबे होने पर भी वे प्रसन्न रहते हैं। आज उनके जीवन पर एक गहरी और व्यापक काली छाया फैल रही है। युद्ध और तज्जनित विपन्नता ने उनसे उनका आनन्द और उनकी स्वाधीनता छीन ली है, लेकिन फिर भी शायद ही कहीं दुःखी चेहरा दिखाई देता है। अन्य लोगों की अपेक्षा वे लोग अपनी कठिनाइयों और आपदाओं को अधिक प्रकृतिस्थ रहकर अधिक सरलता से झेलते हैं। उनका दृष्टिकोण अध्यात्म-विद्या-परक नहीं है और इसलिए उनकी बुद्धि सैद्धान्तिक कट्टरता से मुक्त है। वे लोग वस्तुवादी दृष्टिकोण के हैं। वे हर बात को लेकर सिद्धान्त-स्थापन नहीं करते बल्कि परिस्थिति की कठोर वास्तविकता का उत्तर देते हैं।

एकता स्थापित करनेवाली प्रभावपूर्ण शक्तियों में चीन की लिपि भी एक है। चीन की विविध बोलियाँ एक ही सामान्य लिपि में लिखी जाती हैं। चीनी भाषा में विचारों और वस्तुओं की अभिव्यक्ति चित्रों द्वारा की जाती है। ये चित्र समय बीतने पर अब रूढ़ वर्ण बन गये हैं, जिन्हें विचाराकार (Ideograph) कहते हैं। दरवाजे पर दुर्वृत्ति से झाँकती हुई रमणी के चित्र का अर्थ है ईर्ष्या और परिवारिक संकट। बच्चे को गोद में लिए नारी आनन्द और सुख का प्रतीक है। घर में तीन औरतों के वार्तालाप के चित्र से प्रवाद की अभिव्यक्ति होती है। लगता है प्रवाद फैलाना औरतों का ठेका है। इन लिखित वर्णों का सौन्दर्य लोगों की अभिरुचि को संस्कृत बनाता है और उन्हें सौन्दर्य की अनुभावना और सृष्टि करने की प्रेरणा देता है।

चीन की संस्कृति तत्वत: मानवतावादी है। उसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत अधिक सम्मान दिया गया है। यदि अवसर की समानता प्रजातंत्र की तात्त्विक विशेषता है तो चीन में सदियों से प्रजातंत्र रहा है। वहाँ पुरोहितों या क्षत्रियों के वर्ण या जातियाँ नहीं हैं और धनी और निर्धन का भेद कभी स्थायी नहीं रहा है। अधिकारियों का चुनाव सार्वजनिक परीक्षाओं द्वारा निर्धारित योग्यता के आधार पर होता है।

प्रारम्भ से ही एक प्रकार की राजनीतिक एकता रही है, यद्यपि बहुत शिथिल रही है। प्रान्तों को बहुत अधिक स्वायत्तता प्राप्त रही है। उनका शासन केन्द्रीय शक्ति द्वारा नियुक्त अधिकारी करते रहे हैं। तातार और मंचू जैसे विदेशी विजेताओं ने चीन की परम्पराओं, रीतियों, विचारों और विश्वासों को ज्यों-का-त्यों अपना लिया था।

चीन की संस्कृति नागरिक संस्कृति नहीं है। व्यवसाय और शोषण

की प्रेरणा से भरे नगर-राज्यों का निर्माण चीन के लोगों ने नहीं किया। देश की तीन-चौथाई जनता खेतों पर आश्रित रहती है। चीन की संस्कृति तत्वतः एक कृषक-संस्कृति है। गोमांस का निषेध है और गाय का दूध प्रायः नहीं पिया जाता। धरती को खाद देते रहने की प्रथा से पानी दूषित हो गया, इसलिए चीन के लोगों ने उबाला हुआ पानी पीने की आदत डाल ली जिससे पानी से उत्पन्न होनेवाली बीमारियों से उनकी बहुत रक्षा होती है। उबाले हुए पानी को स्वादिष्ट बनाने के लिए चाय खोज निकाली गई। योरोप के उन्नतिशील देशों ने चीन के साथ चाय और रेशम का व्यापार आरम्भ कर दिया। चीन ने चाय, रेशम और चीनी मिट्टी के बर्तनों का निर्यात किया और बदले में अफ़ीम पाई। चीन के लोगों ने काग़ज़ और छापे की मशीन का आविष्कार किया और चुम्बकीय दिग्दर्शक यंत्र की खोज की जिससे पुनरुत्थान के प्रारम्भ में योरोप के जीवन को गति मिली। अपनी पुस्तक 'इतिहास की रूपरेखा' (Outline of History) में श्री एच० जी० वेल्स ने लिखा है कि काग़ज़ बनाने और छापेखाने के रहस्य की जो देन चीन से योरोप को मिली, उससे जो ज्ञान योरोप में विकीर्ण हुआ उसी का परिणाम है योरोपीय पुनरुत्थान।

हाल की शताब्दियों में योरोपीय सम्पर्क से चीन की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा है; उसे आर्थिक परावलम्बता और राजनीतिक दासता मिली है। महान् शक्तियों ने चीन की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप किया है, उस पर अनेक अपमानजनक शर्तें लगाई हैं और इस प्रकार चीन के राष्ट्रीय जीवन की कमज़ोरियों को स्पष्ट कर दिया है। जिन चीनी लोगों ने पश्चिमी देशों और जापान में शिक्षा पाई थी उन्होंने राष्ट्रीय एकता और देश की स्वाधीनता फिर से स्थापित करने को

कोशिश की। क्रान्ति हुई और मंचू-राजवंश गद्दी से उतार दिया गया। यह काम विदेशों में शिक्षा पाये कुछ नेताओं ने किराये की फ़ौजों की सहायता से किया। लेकिन किसी राजवंश को गद्दी से हटा देना एक बात है और एक स्थायी शक्तिपूर्ण सरकार की स्थापना करना दूसरी बात है। हम यह नहीं कह सकते कि चीन ने यह दूसरा लक्ष्य सिद्ध कर लिया है। लोगों की आदतों को इतनी सरलता से नहीं बदला जा सकता जितनी सरलता से हम शासन के स्वरूप बदल सकते हैं। हज़ारों वर्षों में निर्मित हुई संस्कृति को बीसवीं सदी के कुछ दशकों में निर्मूल नहीं किया जा सकता; बन्दरगाहों और रेल तथा नवमार्गों से सम्बद्ध केन्द्रों में होनेवाले परिवर्तनों से करोड़ों व्यक्तियों की जीवन-प्रणाली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। दूसरों से हम जो कुछ सीखते हैं वह हमारे मस्तिष्क में आता है; पर आत्मा का स्पर्श नहीं कर पाता। जनता के बीच राजनीतिक चेतना अभी जग ही रही है! चीन को आधुनिक रूप देने की प्रक्रिया तो अभी चल ही रही है!

पूर्वज-पूजा को देश-भक्ति में परिणत किया जा रहा है। पितृ-भक्ति, जिसने सामन्तवाद को जीवन दिया था, अब राष्ट्रीय भावना को स्थान दे रही है। इस चेतना के विकास में जापान बहुत बड़ा सहयोग दे रहा है। जापान का प्रतिरोध करने में एक मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न हुई है। मिल-जुल कर झेली गई मुसीबत मैत्री उत्पन्न करती है। जनता अनुभव करती है कि वह एक है, कि वह विश्व के इतिहास में अपना भाग अदा कर रही है, कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की जलती हुई बलि-वेदी पर अपनी आहुति देकर सम्पूर्ण स्वार्थ-भावना से मुक्त और शुद्ध हो रहा है। सभी वर्गों और स्तरों के लोगों में भाई-चारे की भावना प्रबल हो रही है। इस दृष्टि से भारत की

अपेक्षा चीन को बहुत बड़ी सुविधा मिली है। चीन के धार्मिक सम्प्रदाय अपने धर्मों को राजनीतिक संघर्ष में अपना अस्त्र नहीं बनाते। गण-राज्य ने अल्पमतों का राष्ट्रीकरण प्रारम्भ कर दिया था। मुसलमान वहाँ एक धार्मिक अल्पमत हैं, राष्ट्रीय अल्पमत नहीं। अनेक ज़िलों में वे स्पष्ट बहुमत में हैं और कुछ में उनका अनुपात दस में एक है। फिर भी सबसे पहिले और सबसे अधिक वे चीनी हैं। जापान के विरुद्ध युद्ध-संचालन करनेवाले कुछ सेनापति मुसलमान हैं।

राष्ट्रवादी और साम्यवादी दल जापान के प्रतिरोध में एक हैं। डाक्टर सन यात-सेन के तीसरे सिद्धान्त का स्वाभाविक विकास साम्यवाद ही जैसा कुछ है। उस सिद्धान्त का सम्बन्ध सामाजिक न्याय और आर्थिक प्रजातंत्र की आवश्यकता से है। सामान्य जनता के प्रयत्न और राजकीय प्रोत्साहन द्वारा चीन के साधन-स्रोतों का विकास किये जाने पर उस सिद्धान्त में विश्वास प्रगट किया गया है। यथार्थवाद की जो भावना चीनी लोगों में पर्याप्त मात्रा में मौजूद है वही राष्ट्रवादी और साम्यवादी दलों के राजनीतिक सहयोग और समझौते में दिखाई देती है। साम्यवादी इस बात पर तुले हुए हैं कि चीन को साम्राज्यवादी शिकंजे से मुक्त किया जाय, सभी असंगत असमान संधियाँ और विदेशियों को दी गई सुविधायें समाप्त की जायें और चीन की धरती पर सेनायें रखने का जो अधिकार विदेशी व्यक्तियों को दिया गया है, समाप्त किया जाय। निस्सन्देह इसके साथ-साथ वे यह भी माँग करते हैं कि सामन्तवादी तत्त्वों को समाप्त किया जाय और युद्ध-नेताओं की शक्ति को नष्ट कर दिया जाय; और वे लोग चीन की एकता के प्रश्न पर झुकने को तैयार नहीं हैं। चीनी क्रान्ति साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी है। इस समय साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चा

अधिक आवश्यक और आग्रहपूर्ण है। जापान का विरोध करने में सभी दल सहमत हैं। साम्यवादी नेता माओ त्से-तुंग कहते हैं--"यदि हमसे हमारा देश ही छिन जाय तो हम समाजवाद की चर्चा नहीं कर सकते।" चीन के साम्यवादी रूसी साम्यवाद के कट्टर अनुयायी नहीं हैं। उनका पितृ-देश चीन है, रूस नहीं। वे सबसे पहिले और सबसे ज्यादा राष्ट्रवादी हैं और जापान के विरुद्ध वे चीन का युद्ध लड़ रहे हैं, कोमिन्टर्न का नहीं। यद्यपि साम्यवादी चीन में प्रजातंत्र की स्थापना के लिए उत्सुक हैं, फिर भी वे स्वीकार करते हैं कि सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण समस्या है जापानी आक्रमण का प्रतिरोध। संसार के अन्य भागों के साम्यवादी विश्व-युद्ध के प्रति अपनी स्थिति और नीति के सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट नहीं थे। जब रूस ने जर्मनी से सन्धि कर ली तो वे कहने लगे कि अब युद्ध से उनका कोई नाता नहीं रहा। उसे उन्होंने दो विरोधी साम्राज्यवादियों--ब्रिटेन और जर्मनी--का युद्ध कहकर टाल दिया लेकिन जब जर्मनी ने रूस पर हमला कर दिया तो उन्होंने महसूस किया कि यह तो फ़ासिस्ट तानाशाही के विरुद्ध जनता का युद्ध था। जहाँ तक रूस की नीति में हुए परिवर्तनों का सम्बन्ध है, वे परिवर्तन रूस के दाँव-पेचों के लिए आवश्यक थे लेकिन और देशों के लिए नहीं। पर चीन के साम्यवादियों ने योरोप की परिस्थितियों और सोवियत रूस की नीति में होनेवाले परिवर्तनों से मुक्त रहकर अपना उद्देश्य और अपनी नीति अपरिवर्तित रखी। समझौते की भावना सब ओर स्पष्ट दिखाई देती है। साम्यवादियों के प्रति अपने दृष्टिकोण और व्यवहार के बावजूद भी सियान (Sian) में महाबलाधिकृत च्यांगकाई शेक को इसलिए मुक्त कर दिया गया कि साम्यवादी लोग इस परिस्थिति में उन्हें ही एक ऐसा व्यक्ति स्वीकार करते हैं जो जापान के विरुद्ध एक

संगठित चीन का नेतृत्व कर सके। यदि उनके साथ कोई कठोर व्यवहार किया जाता तो जापानियों को यह प्रचार करने में सहायता मिलती कि वह चीन को साम्यवादी अत्याचार से मुक्त कराने आये हैं। यद्यपि पारिभाषिक ढंग से चीन की सरकार को एकदलीय सरकार कहा जायगा, फिर भी दूसरे दलों को प्रताड़ित नहीं किया जाता और वे सरकार की नीति को प्रभावित भी करते हैं। इसका एक विशेष कारण यह है कि महाबलाधिकृत को अपने देश के और विदेशों के जनमत की बड़ी चिन्ता रहती है। वह जानते हैं कि देश के भीतर दलों का संघर्ष धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में देश की समूची शक्ति लगाने में बाधा डालता है और आन्तरिक अनस्थिरता तथा अविरत उत्तेजना का कारण है। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि वर्तमान सरकार अथवा साम्यवादी नेताओं की ओर से कोई ऐसा काम नहीं किया जायगा जिससे जापान के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों के मोर्चे में कोई कमज़ोरी आये; और युद्ध-काल में स्थापित यह सहयोग-समझौता युद्ध के उपरान्त एक प्रजातंत्रीय राजनीतिक पद्धति में बिकसित होगा।

धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध विश्वव्यापी मोर्चे में चीन और रूस के पारस्परिक सहयोग ने चीन में भी दोनों दलों के सहयोग में सहायता दी है और यह आशा की जाती है कि युद्धकाल में स्थापित यह समझौता युद्ध के बाद भी क़ायम रहेगा। संसार के अन्य भागों में यदि शांति और सुरक्षा की स्थापना करनी है तो प्रजातंत्रवादी देशों और सोवियत रूस को मिलकर काम करना होगा। साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्तों का प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों द्वारा अधिकाधिक रूप में स्वीकार किया जाना सम्भव दिखाई देता है; और वे सिद्धान्त ये हैं कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण न हो और यह कि उत्पादन के

साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व न रहे। डाक्टर सन यात-सेन के तीसरे सिद्धान्त--सबके लिए आजीविका—का प्रजातंत्रीय उपायों से क्रियात्मक रूप दिया जाना सम्भव हो सकेगा। जनता की इच्छा या लोक-सम्मति का प्रतिनिधित्व करनेवाला एक प्रजातंत्रवादी राष्ट्र युद्ध को जीत सकता है और शांतिकाल में सड़कों और रेलों के शीघ्र प्रसार, कृषि में विज्ञान के उपयोग, सहकारिता-संगठन और उद्योगों के उत्थान की योजनायें कार्यान्वित कर सकता है। दासता और सामाजिक पीड़न की जिन ज़ंजीरों से जनता को देश के भीतर और बाहर से जकड़ा गया है उनको ऐसा राष्ट्र छिन्न-भिन्न कर सकता है और विदेशी शक्तियों ने चीन के साथ जो भीषण अन्याय किये हैं उनसे निपट सकता है।

राष्ट्रों की परख उनके हार्दिक स्वप्नों से--उनकी कामनाओं से--की जाती है। वर्तमान कठिनाइयाँ चीन की परीक्षा ले रही हैं। एकाकीपन उच्चता देता है, यातनायें शक्ति देती हैं बशर्ते कि हम उनसे हार न मान लें। अपनी कठिनाइयों, यातनाओं और अपनी सहनशीलता के परिणामस्वरूप चीन, जिसमें कभी भी जातीय उच्चता की भावना तथा दूसरों पर आधिपत्य जमाने की लिप्सा नहीं रही, एक ऐसे आधुनिक राष्ट्र के रूप में विकसित होगा जो समानता के आधार पर अन्य राष्ट्रों से सहयोग करेगा।

२

चीन और भारत[1]

चीन की सरकार के प्रति मैं अत्यधिक आभारी हूँ कि उन्होंने कृपापूर्वक मुझे इस देश के दर्शन करने का निमंत्रण दिया और इस प्रकार इस देश के सांस्कृतिक जीवन से कुछ परिचय प्राप्त करने और अपने दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग विकसित करने का मुझे अवसर दिया। यद्यपि चीन के लोग इस समय एक जीवन-मरण के युद्ध में संलग्न हैं, फिर भी वे जीवन के चिरन्तन मान-महत्त्वों के प्रति उदासीन नहीं हैं—उन तत्त्वों के प्रति जिन्होंने चीन के जीवन और चरित्र के निर्माण में इतना सुन्दर योग दिया है। वे तत्त्व हैं विद्या और ज्ञान के प्रति सम्मान और सांस्कृतिक सहयोग। ईसाई संवत् के पहिले से ही हमारे देशों के बीच विद्या और संस्कृति-सम्बन्धी विषयों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया था। इन तमाम सदियों में हम एक-दूसरे से मित्रों और सहयोगियों के रूप में मिलते रहे हैं—ज्ञान की खोज और सद्गुणों के विकास-पथ के सहयोगी पथिकों की भाँति, न कि प्रतिस्पर्द्धी और शोषकों की भाँति। हमारी सभ्यतायें एक लम्बे इतिहास और अविच्छिन्न प्रवाह वाली सभ्यतायें हैं और उनकी एक सामान्य सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है। उनमें मानव-जीवन और

---

१ परिशिष्ठ १ देखिये।

बन्धुत्व के सामान्य आदर्श हैं। राजनीतिक स्तर पर हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सुन्दर पड़ोसियों के सद्व्यवहार के अप्रतिम उदाहरण हैं। विदेशियों के प्रति रहनेवाले अविश्वास और भय से हम त्रस्त नहीं रहे।

पारस्परिक प्रभाव[1]

बहुत सम्भव है कि ईसा पूर्व छठी और चौथी शताब्दी के बीच, जब कि ताओ धर्म विकसित ही हो रहा था, भारतीय तथा चीनी व्यापारियों ने उपनिषदों, रहस्यवादी सिद्धान्तों और योग की विधियों को, जिनमें प्राणायाम और आध्यात्मिक आनन्दावस्था भी सम्मिलित थी, चीन पहुँचाया हो। लेकिन आज हम इस स्थिति में नहीं हैं कि तथ्यरूप में इसकी स्थापना कर सकें।

मौर्य सम्राट् अशोक, जिनका साम्राज्य भारत की प्राकृतिक सीमा तक फैला हुआ था, अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव और उद्देश्य के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भारत की सीमा पर स्थित देशों में तथा सीरिया, मिश्र और मैसीडोनिया जैसे दूर देशों में समानरूप से प्रचारक भेजे थे। बौद्ध धर्म पूर्व के दूरस्थ देशों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में ले आया और एक मानवता की भावना उत्पन्न कर दी जिसने लंका से लेकर जापान के दूरस्थ द्वीपों तक के लोगों को अत्यन्त कोमल-हृदय बना दिया। अपनी बौद्धिक उदारता और मुक्त हृदयता के साथ चीन ने बौद्ध धर्म के सत्यों का स्वागत

[1] परिशिष्ट १, २ तथा ३ देखिये।

किया। इस समय चीन सामन्तों के बीच बँटा हुआ था। उन सामन्तों में से एक ने, जिसका नाम त्सिन (T'sin) था, सामन्ती रियासतों को समाप्त कर दिया और एक केन्द्रीय सरकार स्थापित की जिसने समस्त चीन को एक अधिकार-सत्ता के अधीन कर दिया। हान(Han) शासकों ने, जो ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त में शासनारूढ़ हुए, इस नवनिर्मित चीनी साम्राज्य की अखण्डता दृढ़ करने में अपनी शक्ति लगाई। उत्तर से होनेवाले हमलों से रक्षा करने के लिए उन्होंने चीन की महान् दीवाल बनवाई और जो लोग पश्चिमी सीमा पर रह रहे थे उनसे संधियाँ कीं। इनमें से यू-ची (Yue-che) भी थे जो पहिले ही बौद्ध धर्म से प्रभावित हो चुके थे। अब यह सिद्ध हो चुका है कि सन् २ ई० पू० में यू-ची शासकों ने चीनी सम्राट् को बौद्ध ग्रन्थ भेंट किये।[1] भारत से आनेवाले प्रथम बौद्ध प्रचारक गोभरण और काश्यप मातंग हान-राजवंश के सम्राट् मिंग ती के शासनकाल में चीन पहुँचे थे। सन्

[1] कहा जाता है कि बौद्ध प्रचारक सन् २१७ ई० पू० में चीन की राजधानी में उपस्थित थे जब कि वहाँ त्सिन (T'sin) वंश का शासन था। यह भी कहा जाता है कि सन् १२१ ई० पू० में एक चीनी सेनापति को मध्य एशिया में बुद्ध की एक सोने की मूर्ति मिली थी जब वहाँ वह एक सैनिक अभियान में गया था। लेकिन इन कहानियों की पुष्टि नहीं हुई। देखिये विल्हेल्म लिखते हैं—"इस बात को स्पष्ट साक्ष्य है कि बौद्ध प्रतिमायें और बौद्ध उपदेश इस समय (६१–६७ सन्) के पहिले ही चीनी जनता तक पहुँच चुके थे। ये मूर्तियाँ और उपदेश मध्य एशिया के मार्ग से यहाँ पहुँचे, जहाँ पर बौद्ध धर्म बहुत पहिले से प्रचलित था।"—A Short History of Chinese Civilisation (1939), Reichelt की पृष्ट १६७। Truth and Tradition in Chinese Buddhism, E. T. (1927), भी पृष्ठ २ देखिये।

६५ में सम्राट् ने एक स्वप्न देखा जिसमें उन्हें एक सोने की मूर्ति दिखाई दी और जब उन्हें मालूम हुआ कि वह मूर्ति बुद्ध हैं तो उन्होंने बौद्ध उपदेशकों को बुलवाया। दोनों उपदेशक अपने साथ एक श्वेत अश्व ले गये थे जिस पर पवित्र ग्रन्थ और अवशेषांश लदे हुए थे। सम्राट् के आदेश से उनके लिए राजधानी में एक विहार बनवाया गया जिसका नाम 'श्वेताश्व विहार' (The White Horse Monastery) था। दोनों स्थविरों ने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने और बौद्ध धर्म का उपदेश देने में बिताया। यद्यपि अनेक अनुवादों का श्रेय उन्हें दिया जाता है पर एक ही अनुवाद प्राप्त हो सका है, जिसका नाम है बयालिस विभागों का सूत्र ('The Sutra of the Forty-Two Sections)।

ये दोनों उपदेशक मध्य एशिया के मार्ग से चीन गये थे। दक्षिणी चीन के साथ ई० पू० दूसरी शताब्दी में आसाम और बर्मा के मार्ग से भारतीय व्यापार के प्रमाण मिलते हैं और कुछ भारतीय उपदेशक इस मार्ग से भी चीन गये। बाद में तो समुद्री यात्राओं की अधिकता हो गई।

ईसा सन् की पहिली १० शताब्दियों तक तो भारतीय उपदेशक बहुत बड़ी संख्याओं में चीन गये।[1] लेकिन ११वीं शताब्दी के बाद

[1] इन उपदेशकों में से प्रधान हैं—धर्मरक्ष (तीसरी सदी का मध्य), संघभूति (सन् ३८१), गौतम संघदेव (सन् ३८४), पुण्यत्राता और उनके शिष्य धर्मयशस् (सन् ३९७), बुद्धयशस् (चौथी सदी), कुमारजीव (सन् ४०१), विमलाक्ष (सन् ४०६), धर्मक्षेम (सन् ४१४), बुद्धजीव (सन् ४२३), गुणभद्र (सन् ४३५), बोधिधर्म (सन् ५२०), विमोक्ष सेन (सन् ५४१), उपशून्य और परमार्थ

चीन के आलेखों में भारतीय अतिथियों की चीन-साम्राज्य में आने की चर्चा नहीं मिलती। इसका कारण है भारत में बौद्ध धर्म का पतन और ११वीं सदी के बाद हिन्दू-धर्म द्वारा बौद्ध धर्म का आत्मसात् कर लेना।

जब चीन की आत्मा का सम्पर्क भारत की सांस्कृतिक विभूति से हुआ तब एक नवीन चीन का जन्म हुआ, उस चीन का जो आज तक जीवित है। जहाँ तक चीन के भारतीय उपदेशकों के प्रभाव का प्रश्न है, चीनी बौद्ध धर्म के एक विदेशी विद्यार्थी का ही कथन देखें--"चीन इन प्रथम प्रवासी बौद्ध प्रचारकों को कभी नहीं भूल सकेगा जिन्होंने अनुवाद और संगठन के कठिन कार्य को इतनी योग्यता और श्रद्धा के साथ किया और जिन्होंने प्रचार-कार्य में इस प्रकार अपने को तन-मन से तल्लीन कर दिया। जब आज इन भारतीय यात्रियों द्वारा अनूदित और प्रस्तुत विशाल बौद्ध साहित्य को हम देखते हैं जो सुन्दरतम और उत्कृष्टतम शैली में प्राचीन चीनी विद्वज्जन द्वारा लिखा गया है तो बरबस हमारे हृदय में एक गम्भीर आश्चर्य और श्रद्धा की भावना भर जाती है।

"फिर भी, एक दूसरा पक्ष ऐसा है जो यदि सम्भव हो सके तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस बात पर भी ध्यान देना ही चाहिए कि आर्य-जाति के सर्वाधिक गम्भीर धार्मिक जीवन के इन प्रतिनिधियों ने अपेक्षाकृत रूक्ष और वस्तुवादी मंगोल-जाति के चरित्र पर बहुत

(सन् ५४६), जिनगुप्त और उनके गुरु ज्ञानभद्र तथा जिनयशस् (सन् ५५९), धर्मगुप्त (सन् ५९०), प्रभाकरमित्र (सन् ६२७), बोधिरुचि (सन् ६९३), शुभाकरसिंह (सन् ७१६), वज्रबोधि और अमोघवज्र (सन् ७२०), धर्मदेव (सन् ९७३)।

अधिक अध्यात्मिक प्रभाव डाला है। जो भारतीय स्थविर चीन के प्रारम्भिक मन्दिरों में रहे, गुहाओं में बैठकर जिन्होंने बड़ी सावधानी से सूत्रों की प्रतिलिपियाँ बनाईं और जो अपने सामान्य शाकाहार और नियमित उपासना में जीवन बिताते रहे वे हृदय की गहनतम अनुभूति में धार्मिक व्यक्ति थे, जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था परमसत्ता में विलीन हो जाना।······धीरे-धीरे मंगोल लोगों के रूखे हृदय पिघले और इस व्यक्तिगत प्रभाव से चीन की स्थविर परम्परा में चरित्र की शालीनता से संयुक्त वह पवित्र विभूति उत्पन्न हुई जो तब से लेकर आज तक चीन के बौद्धों के सम्मुख एक महान् आदर्श बनी हुई है और जिसकी प्राप्ति व्यक्तिगतरूप से ही की जा सकी, जीवन में जिसे बहुत थोड़े ही लोग उतार सके।"[१]

आज बौद्ध धर्म के प्रति नये रूप में अभिरुचि उत्पन्न हो रही है। भारत की वर्तमान आध्यात्मिक जाग्रति में गौतम बुद्ध और उनके सन्देश को अपना उचित स्थान प्राप्त हो रहा है। अधिकाधिकरूप में यह स्वीकार किया जा रहा है कि गौतम बुद्ध हिन्दू-धर्म के एक सुधारक थे, विरोधी नहीं। उनके तात्त्विक सिद्धान्तों का मूल उपनिषदों में है। नये-नये बौद्ध मन्दिर और बौद्ध संहाराम देश के सभी भागों में बन रहे हैं। ऐसी आशा करने के पर्याप्त कारण हैं कि पूर्व के आध्यात्मिक जीवन को सजग सबल बनाने में भारत एक बार फिर एक महत्त्वपूर्ण भाग लेगा।

चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों के ऐसे अनेक अनुवाद हैं जिनके मूल ग्रन्थों का पता नहीं है। इन मूल-ग्रन्थों की खोज एक ऐसा महत्त्वपूर्ण

---

१ Reichelt : Truth and Tradition in Chinese Buddhism, E. T. (1927), पृष्ठ १२-१३।

काम है जो चीन और भारत के अनुसंधानकर्ताओं के अध्यवसाय की प्रतीक्षा कर रहा है।

चीन और भारत के बीच विद्वानों का आवागमन एकपक्षीय नहीं था। जब कभी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और व्यवहारों के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होता था तो चीन के यात्री सत्य का उसके मूल स्थान में अनुसंधान करने के लिए भारत आते थे—बौद्ध ग्रन्थों का मूलरूप में अध्ययन करने और महात्मा बुद्ध की स्मृति के पवित्र स्थानों का दर्शन करने के लिए। श्री इ-चिंग का कहना है कि तीसरी शताब्दी के मध्य में २० चीनी स्थविर भारत आये थे। एक गुप्त-सम्राट् ने बोध-गया के समीप उनके लिए एक विहार बनवाया था जिसका नाम चीना संहाराम था। इन चीनी यात्रियों में से सर्वाधिक साहसी थे श्री फा हियान (सन् ३९९-४१४) जो स्थल-मार्ग से भारत आये और जल-मार्ग से चीन वापस गये, श्री चे-माँग (सन् ४०४-४२४), श्री सुंग युन (सन् ५३०), श्री ह्वेन-त्सँग (सन् ६२९-६४५), श्री वांग ह्वेन-त्सो (सन् ६३४-६४७) जिन्होंने बाद में फिर भारत की यात्रा की और श्री इ-चिंग (सन् ६७१-६९५)। इन तथा भारत आनेवाले अन्य चीनी यात्रियों में से श्री ह्वेन-त्सँग निश्चय ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। वे चीनी-भारतीय सांस्कृतिक सहयोग के प्रतीक हैं। भारत में उनकी यात्राओं के विवरण चीन के युवकों और वृद्धों के लिए एक विशिष्ट साहित्य हैं। सन् ६२२ ई० में उन्होंने पूर्णरूप से बौद्ध स्थविर का अनुशासनमय जीवन स्वीकार कर लिया और सन् ६२९ ई० में अपनी यात्रा पर चल पड़े। उनकी प्रार्थना थी—"इस यात्रा में मेरा उद्देश्य न धन प्राप्त करने का है, न प्रशंसा और न प्रसिद्धि। मेरा पूर्ण उद्देश्य है उच्चतर ज्ञान और सत्य-विधान की खोज और प्राप्ति। और हे बोधि-

सत्त्व ! तुम्हारा हृदय ही जीवों को जीवन की यातनाओं से मुक्त करने के लिए उत्कंठित रहता है। और भला मुझसे कठोर यातनायें सहनेवाला क्या कभी कोई हुआ है ? क्या तुम मेरी यातनाओं को समझ नहीं सकते ?" भारत में उन्होंने लगभग सोलह वर्ष बिताये, उत्तरी और दक्षिणी भारत में घूमे और शक्तिमान् भारतीय शासकों—कन्नौज के श्री हर्ष और कामरूप के भास्करवर्मन—से भेंट की। उन्होंने नालन्दा विश्वविद्यालय में आचार्य शीलभद्र की शिक्षा में पाँच वर्ष तक अध्ययन किया। यह आचार्य शीलभद्र धर्मपाल के शिष्य थे जिनको महान् आचार्य असंग और वसुबन्धु के शिष्य तर्कशास्त्री दिङ्नाग ने शिक्षा दी थी। श्री ह्वेन-त्सँग ने विज्ञानवाद के सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन किया। खोतान से लौटते हुए उन्होंने अपने सम्राट् को एक स्मृति-पत्र[1] भेजा जिसमें उन्होंने उन कारणों को स्पष्ट किया जिनसे बाध्य होकर सम्राट् की अनुमति बिना ही उन्होंने भारत की लम्बी और

---

[1] "यदि हम ज्ञान की खोज में दूर-दूर की यात्रा करनेवाले अपने प्राचीन आचार्यों की प्रशंसा करते हैं तो हमें उनकी कितनी अधिक प्रशंसा करनी चाहिए जो कल्याणकारी बौद्ध धर्म के गुह्य तत्त्वों की खोज करते हैं, जो संसार-जाल से मुक्त करने में समर्थ त्रिपिटिक के अद्भुत मंत्रों का अनुसंधान करते हैं! ऐसे प्रयासों की अवमानना हम कैसे कर सकते हैं? हर्ष और उत्साह के साथ हम कैसे उनका स्वागत नहीं करेंगे? मैं—ह्वेन त्सँग—बहुत पहिले से भगवान् बुद्ध के उन सिद्धान्तों से परिचित हो चुका था जिन्हें वे चीन के पश्चिम की दुनियाँ का दे गये थे, जिन सिद्धान्तो के नियम और आदेश पूर्व में अपूर्णरूप में ही पहुँच पाये। मैं सर्वदा एक ऐसी योजना के सम्बन्ध में सोचता रहा जिसके अनुसार अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के विचार से मुक्त होकर इस सत्य-ज्ञान की खोज की जा सके। तदनुसार

दुस्साध्य यात्रा की थी। सम्राट् ने उदारता के साथ उनके इस स्मृति-पत्र को स्वीकार किया और खोतान के अधिकारियों को आदेश दिया कि इस यशस्वी यात्री की सहायता करें। जब वे चीन पहुँचे तो सम्राट् ने बड़े स्नेह से उनका स्वागत किया। उनकी भारत-यात्रा और बौद्ध धर्म के लिए किये गये उनके कार्यों ने चीन में भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में बड़ी अभिरुचि उत्पन्न कर दी।

भारत और चीन के इन परिव्राजक मनीषियों और कल्याण तथा ज्ञान-सिद्धि के लिए किये गये उनके अथक प्रयासों की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते। पर परिस्थिति का विरोधाभास तो यह है

चेंगकूआन-काल के तीसरे वर्ष के चतुर्थ माह (सन् ६३० ई०) में संकटों, कठिनाइयों और आपत्तियों का सामना करते हुए में गुप्त रूप से भारत पहुँच गया। मैंने विशाल बालुका-प्रदेश पार किये, हिमाच्छादित पर्वत की चोटियों को पार किया, लौह द्वारों के मार्गों में से अपना मार्ग निकाला और भयानक सागर की गरजती लहरों पर से अपना रास्ता बनाया।......इस प्रकार मैंने पचास हज़ार ली (लगभग १७ हज़ार मील) से भी अधिक लम्बी यात्रा की है; और अब परम्पराओं और रीतियों के असंख्य विभेदों और अगणित आपदाओं का सामना करने के बाद भगवान् की अनुकम्पा से बिना किसी प्रकार की दुर्घटना का शिकार बने स्वस्थ शरीर और अपने संकल्पों की पूर्ति से सन्तुष्ट मन के साथ वापस लौटकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ। मैंने गृध्रकूट पर्वत देखा है, बोधि वृक्ष की उपासना की है; मैंने उन चिह्नों को देखा है जो पहिले नहीं देखे थे, उन पवित्र शब्दों को सुना है जो पहिले नहीं सुने थे, उन आध्यात्मिक विभूतियों को देखा है जो प्रकृति के समस्त आश्चर्यों से बढ़कर हैं, अपने महान् सम्राट् के महान् गुणों का साक्षी बना हूँ और उनके लिए जनता का सम्मान और श्रद्धा अर्जित की है।"—India And China by Bagchi (1944), पृष्ठ ७८-७९।

कि जैसे-जैसे आवागमन के साधन बढ़ते गये, सांस्कृतिक सम्बन्ध ठप होते गये। लम्बी-से-लम्बी यात्रायें आश्चर्यजनकरूप में आसान हो गई हैं, पर पारस्परिक सद्बोध भयानकरूप से कठिन हो गया है। जैसे-जैसे भौतिक दूरी कम होती गई है, मानसिक दूरी बढ़ती गई है।

दोनों देशों की राजनीतिक विपदाओं के कारण विद्वानों का आवागमन कम हो गया है। सन् १९११ में चीनी गणतंत्र की स्थापना के बाद हमारी पारस्परिक अभिरुचि बढ़ गई है। आपने आज से ठीक २० वर्ष पहले सन् १९२४ में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर की चीन-यात्रा का तथा महाबलाधिकृत और श्रीमती च्याँग, माननीय ताई ची-ताओ तथा शिक्षा-सचिवालय के डाक्टर कू के नेतृत्व में सांस्कृतिक शिष्ट-मंडल की भारत-यात्रा की चर्चा की है। हाल ही में विद्यार्थियों के आदान-प्रदान की जो योजना बनाई गई है वह सफलतापूर्वक काम कर रही है और मेरा विश्वास है कि उसका भविष्य सम्भावनाओं से उज्ज्वल है। यदि इससे आगे बढ़कर अध्यापकों का भी आदान-प्रदान हो तो पारस्परिक सद्भावना बढ़ेगी और उससे हमारा कल्याण होगा। यदि चीन और भारत, जो अनाक्रामक राष्ट्र हैं, आगे आनेवाले वर्षों में एक साथ चल सकें तो विश्व के नवनिर्माण को बुद्धिमत्ता की नींव पर निर्मित करने में वे प्रभावपूर्ण योग दे सकेंगे।

चीन के प्रति भारत की सहानुभूति

हम भारतीयों ने आपकी उस वीरता और संकल्प-शक्ति की प्रशंसा की है जो आपने अपने महाबलाधिकृत के नेतृत्व में अपनी स्वाधीनता और अपने आत्म-सम्मान के लिए होनेवाले इस संघर्ष में दिखाई है।

इस युद्ध में आक्रमणकारियों के विरुद्ध कमर कसकर युद्ध करनेवाले आप पहिले राष्ट्र हैं और पूरे साढ़े चार वर्ष तक आपने अकेले एक सबल शत्रु से उस दृढ़ता के साथ लोहा लिया है जिसको देखकर चीन के भविष्य के सम्बन्ध में शंका करनेवाले शान्त हो गये हैं। साढ़े चार वर्ष बाद पर्ल बन्दरगाह पर हमला हुआ जिसके कारण अमरीका और ब्रिटेन आपके पक्ष में आये। आपकी मुसीबत की घड़ी में हमारे नेताओं ने अपनी गहरी सहानुभूति व्यक्त की है और यह हार्दिक आशा प्रकट की है कि अस्थायी संकट चाहे जो हों, आपका यह देश कभी पराजित नहीं हो सकता और अन्ततोगत्वा इसकी विजय होगी। जापानी कवि योन नागूची को लिखे गये रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भर्त्सना भरे पत्र प्रसिद्ध हैं। जब गांधीजी ने अर्धबुभुक्षु रोगग्रस्त लाखों भारतियों को राष्ट्रीय प्रयत्नों से अन्न और मान देने के प्रयत्न में 'भारत छोड़ो' का नारा उठाया तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि इसका अर्थ केवल यह है कि भारत से ब्रिटेन का राजनीतिक स्वत्व हटा लिया जाय, अंग्रजी नियंत्रण समाप्त हो और इसका यह अर्थ नहीं है कि अंग्रेजों का भारत से सम्बन्ध समाप्त हो जाय और न उसका यह अर्थ है कि धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध भारत से होनेवाले युद्ध-प्रयासों में किसी प्रकार की बाधा आये। पर उस नारे का बहुत ग़लत अर्थ लगाया गया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के नेताओं ने चीनी जनता के सम्मुख यह स्पष्ट करने की भर-सक कोशिश की कि तत्काल स्वाधीनता पाने का उनका संघर्ष इस प्रकार नहीं चलाया जायगा जिससे युद्ध-प्रयासों में बाधा पड़े या चीन के हित को हानि पहुँचे। अगस्त, सन् १९४२ में बंदी बनाये जाने के पहिले गांधी जी ने आपके महाबलाधिकृत को लिखा था—"चीन के प्रति मेरी जो भावना है उसके कारण मैं आपके सामने यह स्पष्ट कर देने के लिए उत्सुक हूँ

कि अंग्रेज़ी शक्ति से भारत छोड़ देने की मैं जो अपील कर रहा हूँ उसका किसी प्रकार भी यह अर्थ नहीं है कि जापान के विरुद्ध भारत की सुरक्षा को दुर्बल बनाया जाय या आप जो संघर्ष चला रहे हैं उसमें कोई अड़चन पड़े। मैं जो भी कार्य करने का अनुमोदन करूँगा वह इस विचार के साथ निर्धारित होगा कि उस कार्य से चीन को हानि न पहुँचे और भारत या चीन के विरुद्ध जापानी आक्रमण को प्रोत्साहन न मिले।"[1] यह कहना ग़लत है कि भारतीय राजनीतिक नेता जापान के तोषक हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि जब तक फ़ासीवाद नष्ट नहीं किया जाता तब तक स्वाधीनता का पुनर्जन्म नहीं हो सकता, मानवता का उत्थान नहीं हो सकता। और निश्चय ही नाज़ीवाद की पराजय का व्यावहारिक अर्थ है प्रधान प्रतिक्रियावादी शक्तियों से संसार को मुक्त करना। यह

---

[1] सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स द्वारा अमरीकी जनता के नाम प्रसारित किये गये भाषण के उत्तर में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था--"यदि हमने कोई भी बात स्पष्ट और निश्चित रूप से कही है तो वह यह है कि स्वतंत्र भारत देश की रक्षा हर प्रकार से--सैन्य दल से और हर उपाय से—करेगा।" नेहरूजी ने यह बात गांधीजी की पूरी सहमति के साथ कही थी। गांधीजी का कहना था—"मेरे लिए तो अहिंसा धर्म-सिद्धान्त है, मेरे जीवन का श्वास है। लेकिन एक धर्म-सिद्धान्त के रूप में मैंने अहिंसा को देश के सामने कभी नहीं रखा ....मैंने इसे कांग्रेस के सम्मुख राजनीतिक प्रश्नों और समस्याओं का हल निकालने के लिए एक राजनीतिक साधन के रूप में रखा है। एक राजनीतिक साधन के रूप में उसे हमेशा बदला जा सकता है, सुधारा जा सकता है, उसका विकल्प सोचा जा सकता है और उसे किसी दूसरे साधन के बदले छोड़ा भी जा सकता है...जो कुछ आप चाहते हैं वह यदि मिल जाता है तो आप अपना सौदा कीजिये और निश्चिन्त रहिये कि मैं उस पर कुछ भी अफ़सोस नहीं करूँगा।"

कोई एक राष्ट्र का राष्ट्रीय प्रश्न नहीं है, यह तो समूचे संसार की दशा है। जब पश्चिम के प्रजातंत्रवादी राष्ट्र जर्मनी, इटली और जापान के प्रति तोषक-नीति अपनाये हुए थे तभी भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने खुल कर उस नीति का विरोध किया था और सर्वसम्मति से अपनी यह उत्कंठा प्रगट की थी कि भारत और संसार के अन्य भागों की फ़ासी साम्राज्यवाद के खतरे से रक्षा की जानी चाहिए। यह खतरा हिंसा और आक्रमण के द्वारा दुनियाँ का नया नक़्शा बनाये जाने की चुनौती दे रहा था। समूचे देश में चारों ओर जिस प्रकार भारत में 'चीन-दिवस' मनाया गया और आपके महाबलाधिकृत और श्रीमती च्यांग का जिस प्रकार उत्साहपूर्ण स्वागत देश ने किया जब कि वे सन् १९४२ में राजनीतिक और सामरिक वार्ता के लिए भारत गये थे, उसी से आपको अन्दाज लग सकता है कि हमारा देश आपकी इन कठिनाइयों और परीक्षाओं के प्रति कितनी सहानुभूति रखता है।

क्या है जो आपने नहीं देखा, नहीं सहा और नहीं झेला ? प्रलय के उंचासों पवन—विद्रोह, क्रान्ति, गृह-कलह आतंक, स्नायु-घातक अनिश्चितता, प्रकृति का कोप, अकाल, मुद्रास्फीति, महामारी, जन-समूह का स्थानान्तरण—सभी आपके जीवन में पूरे वेग से बहे। वैभव-भरित विपुल दिनों में जो लोग आराम से जीवन बिताते थे, जिनके जीवन में शान्ति थी, जो अजातशत्रु और विश्वमित्र थे, जिनके जीवन में एक स्वाभाविक अनपेक्षा और आनन्द की ज्योति थी, जो मानवीय प्रेम और पारिवारिक शालीनता में स्वभावतः आनन्द पाते थे आज वही युद्ध के विनाश से विक्षिप्त और विकल हैं। इस अत्यन्त संकट की घड़ी में आपकी प्रसुप्त शक्ति जग पड़ी है और संसार उसे देख रहा है।

भारत में हमने भी अपनी मुसीबतें झेली हैं और हम आपकी इन

मुसीबतों को समझ सकते हैं जो ऐसी विदेशी शक्तियाँ पैदा कर रही हैं जिन्हें अपने प्रभाव और अधिकार-क्षेत्र निर्मित करने की चिन्ता है। अपने विषादों ने हमें गम्भीर बना दिया है, अपनी परीक्षाओं ने हमें सहनशील बना दिया है। आज जो कुछ ज़ोर-शोर से हमें सुनाया जा रहा है उस सबके बावजूद भी हमारा विश्वास है कि उत्थान के स्वर फिर फूटेंगे। हम अपने देश में विदेशियों द्वारा बार-बार पराजित हुए हैं और फिर भी हम उनकी मृत्यु और अपना जीवन देख सके हैं क्योंकि हमारे भीतर कोई ऐसी गुप्त शक्ति है जो पराजय को विजय में बदल देती है; उसे भी फलदा बना देती है। राजनीतिक पराजय आत्मा की पराजय नहीं है। सच्ची पराजय है उन चीज़ों पर से विश्वास उठ जाना जो मनुष्य की निर्दयता और उसके पागलपन की चोट सहकर भी जीवित रहती हैं। आपने अन्य किसी राष्ट्र की अपेक्षा अधिक विपत्तियों को झेला है, लेकिन इन विनाशों के ढेर से हमेशा आपका मस्तक ऊँचा उठा है और उठकर आपने जीवन की शान्तिमूलक कलाओं की ओर उस मानवता और धैर्य के साथ क़दम बढ़ाये हैं जो युगों से चीन की विशेषता रही है। महान् सन्त लाओ त्सू ने विश्व की रचनात्मक भावना को इस सिद्धान्त के अनुकूल कार्य करते हुए बताया है—"स्वामित्वहीन उत्पादन, आत्म स्थापन-हीन कर्म, आधिपत्य-मुक्त उत्थान।" आत्म स्थापन और आधिपत्य की भावना से पीड़ित संसार में आपने जीवन का यह दृष्टिकोण सुरक्षित रखा है।

हम भारतीय आज भी एक धार्मिक जाति हैं; बहुत से लोगों का विचार है कि हम ज़रूरत से ज़्यादा धार्मिक हैं। कुछ भी हो, हमने आज भी आत्मा के मूल्य-महत्त्व और समाज के नैतिक संगठन पर अपना विश्वास नहीं खोया। हमारे सन्तों ने घोषणा की है—"अधर्म से मनुष्य

पनप सकता है, जीवन में अनेक लाभ उठा सकता है, अपने शत्रुओं पर विजय पा सकता है; पर यह निश्चित है कि उसका अधर्म अन्त में उसे डुबो देगा।" श्री कन्फ्यूशियस की यह घोषणा कि स्वर्ग की इच्छा ही विजयिनी होगी, श्री लाओ त्सू का यह कहना कि ताओ (धर्म) की अवहेलना करके किसी की गति नहीं, बुद्ध की यह स्थापना कि धरती और स्वर्ग पर कल्याण का केवल एक उपाय है धर्म या पवित्रता—इन सबका यही अर्थ है कि संसार का शोषण करनेवाले अन्ततोगत्वा नैतिक विधान की चट्टान से टकराकर अपने विनाश को प्राप्त होते हैं। मानव-अस्तित्व पर चिन्तन करनेवाले सन्तों का यह विश्वास कि "हिंसक मनुष्य का आज तक कभी भी कल्याणकारी अन्त नहीं हुआ"[१] उन लोगों के निष्कर्ष से भी पुष्ट होता है जिन्होंने इतिहास का तत्त्व-दर्शन किया है और जो इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ऐतिहासिक स्तर पर शक्ति के दुरुपयोग का प्रतिफल दण्ड मिलता ही है। संशयात्मा श्री गिब्न (Gibbon) को मानव-जीवन में धर्म की महत्ता का कुछ भी पर्याप्त बोध न था, फिर भी उन्होंने लिखा—"मुझे विश्वास है कि मुझपर अन्धविश्वासी होने का दोषारोपण नहीं किया जायगा, पर मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि इस संसार में भी कभी-कभी घटनाओं का स्वाभाविक क्रम नैतिक प्रतिशोध जान पड़ता है—और बड़ी प्रबलता के साथ।" यह विश्व अन्ध-अपरिणाम के हाथ का खिलौना नहीं है। मनुष्यों के कर्मों और व्यापारों में एक नैतिक विधान है। यही तो एक आशा है जो लाखों प्रताड़ित दासों के लिए भी जीवन जीने लायक बनाये है।

---

१ Tao Te Ching, XLII.

भारत के प्रति चीन की सहानुभूति

इस अवसर पर में चीन की जनता और चीन के नेताओं को उनकी सहानुभूति और उनकी सहायता के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ जो उन्होंने हमें अपने संघर्ष में दी है। आपके महाबलाधिकृत के विदा होते समय के वे शब्द हमें याद हैं जिनमें उन्होंने अंग्रेज़ी सरकार से भारत को वास्तविक राजनीतिक शक्ति देने की अपील की थी। हम उनकी उस अपील के लिए आभारी हैं। उन्होंने यह महसूस किया था कि भारतीय जनता की माँगों के तिरस्कार से और उससे उत्पन्न निराशा के कारण कुछ लोगों में एक विषादपूर्ण तटस्थ मनोवृत्ति बढ़ रही है। वे जानते थे कि भारत के लोग धुरी-राष्ट्रों के प्रबल विरोधी हैं और यदि उनके अपने चुने हुए नेता शासन-सूत्र सँभालें तो भारतीय जनता यह अनुभव करने लगे कि वह केवल संसार की स्वाधीनता के लिए ही नहीं लड़ रही बल्कि स्वयं अपनी आज़ादी के लिए लड़ रही है। किराये पर भरती किये जाकर लड़ाई लड़ना दूसरी बात है—जैसे कि अधिकृत योरोप के लोगों से हिटलर ने अपनी किराये की फ़ौजें खड़ी की हैं—और अपने आपको दासता से बचाने के लिए युद्ध करना दूसरी बात है जैसा कि चीन, रूस और अन्य स्वतंत्र देशों के लोग लड़ रहे हैं। चीन को न केवल भारतीय स्वाधीनता की भाव-सूक्ष्म समस्या से गम्भीर सहानुभूति है बल्कि भारत के युद्ध-प्रयत्नों के प्रकार और उनके परिमाण को भी ऊपर उठाने के लिए वह चिन्तित है। चीन यह नहीं चाहता कि 'स्वाधीनता के लिए युद्ध' का नारा केवल एक नारा बनकर रह जाय, इसलिए चीन के नेता ने मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में भारत की सम्पूर्ण नैतिक और पार्थिव शक्ति जीत लेने के उद्देश्य से ब्रिटेन से भारत में राष्ट्रीय

सरकार की स्थापना की अपील की ताकि भारतीय जनता की आशायें उन्मुक्त हों, उन्हें एक प्रेरणात्मक आदर्श प्राप्त हो और इस प्रकार भारतीय समाज की बढ़ती हुई शक्तियों का सम्पूर्ण बल मित्रराष्ट्रों को प्राप्त हो।

दार्शनिक अध्ययन की महत्ता

महोदय! आपने आज के वेदना-विकल युग में दार्शनिक अध्ययन और अनुशासन की महत्ता का उल्लेख किया है। आपने स्वयं अनुभव किया है और जानते हैं कि मनुष्य कितना नृशंस हो सकता है, कैसा प्रमत्त पशु वह बन सकता है और फिर भी संकटों, परीक्षाओं का सामना करने और उन पर विजय पाने की उसमें कितनी अदम्य शक्ति है। मनुष्य का निर्माण आनन्द के लिए हुआ है लेकिन वह सर्वत्र निरानन्द है, उसके हृदय से आनन्द और हँसी के तत्त्व जैसे निचोड़कर बाहर कर दिये गये हैं। मनुष्य का जीवन जीने, प्रेम करने और प्रसन्न रहने के लिए है; लेकिन हम देखते हैं कि वह अपने शरीर में मदिरा भरकर, हाथों में बन्दूक़ लेकर और हृदय में रोष की आग सुलगाकर उद्वेग के साथ चल रहा है। विज्ञान की जो अद्भुत सफलतायें मानवीय सुख और रचना-मूलक स्वाधीनता के विकास के लिए हैं उनका उपयोग विनाशकारी कार्यों में किया जाता है। युगों का स्वप्न आज पूरा हुआ है—हमने पवन-देव को जीता, विश्व-गोलक के आर-पार मनुष्य के स्वर की गति हुई, हमने आकाश को जीता, परमाणु का विस्फोट किया और भयानक-से-भयानक बीमारियों की रोक-थाम और चिकित्सा खोज निकाली। लेकिन जिस समय और जितने समय में हमने यह सब

किया, जो देव-तुल्य है, उसी और उतने ही समय में हमने आत्म-संहार की अनन्त सामर्थ्य भी उत्पन्न कर ली है और एक अकल्पनीय बर्बरता के स्तर पर पहुँच गये हैं। हमें स्वयं अपना नियामक बनना सीखना होगा। सभ्यता प्राविधिक या यांत्रिक कुशलता नहीं है, वह आत्मा की संस्कृति है।

श्री कन्फ्यूशियस कहते हैं—"धनुर्विद्या में मनुष्य की सच्ची संस्कृति की अनुकृति है। यदि व्यक्ति निशाना चूक जाता है तो इसका कारण अपने ही भीतर खोजना होता है।" हमें वैज्ञानिक सफलतायें मिली हैं, यांत्रिक और प्राविधिक उन्नति हुई है, संगठन की अद्भुत शक्तियाँ हमें मिली हैं और कष्ट-सहन तथा बलिदान के नैतिक गुण हममें अत्यधिक मात्रा में हैं; लेकिन फिर भी हम दुःखी हैं। विज्ञान और उसके अनुसन्धानों का सम्बन्ध वाह्य संगठन से है न कि आन्तरिक जीवन से। सुन्दर मानव-जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करने में इनसे सहायता मिलती है, लेकिन यह स्वयं सुन्दर जीवन की सृष्टि नहीं करते। यह हमें दीर्घ जीवन, व्याधि-निवारण और सम्पत्ति तथा अवकाश-वृद्धि के साधन तो देते हैं लेकिन यह नहीं बता पाते कि इस लम्बे जीवन, अवकाश, स्वास्थ्य और सम्पत्ति को लेकर हम करें क्या! श्री ऑस्कर वाइल्ड (Mr. Oscar Wilde) ने एक महान् कहानी कही है—"एक शुभ्र समतल से यीशु एक पीत नगर में आये। जब वे पहिली गली पार कर रहे थे, उन्हें अपने ऊपर कुछ आवाजें सुनाई दीं और उन्होंने देखा कि एक नवयुवक एक खिड़की की देहली पर शराब पिये पड़ा है। उन्होंने पूछा—'तुम अपना जीवन शराबखोरी में क्यों बरबाद करते हो?' उसने उत्तर दिया—'देव, मैं एक कोढ़ी था और आपने मुझे नीरोग किया; मैं अब क्या करूँ?' कुछ दूर और

चलने पर उन्हें एक नवजवान वेश्या के पीछे दौड़ता दिखाई दिया और उन्होंने कहा--'तुम अपनी आत्मा को इस प्रकार पतित क्यों करते हो?' और उस नवजवान ने उत्तर दिया—'मैं अन्धा था और आपने मुझे आँखें दीं; मैं अब और क्या कर सकता हूँ?' आखिरकार उन्हें नगर के बीच एक बुड्ढा मिला जो धरती पर दुबककर पड़ा रो रहा था। जब यीशु ने उससे रोने का कारण पूछा तो उस बुड्ढे ने उत्तर दिया—'देव, मैं मर गया था और आपने मुझे फिर से जीवन में प्रतिष्ठित किया; अब मैं रोने के अलावा और क्या कर सकता हूँ?'" स्वास्थ्य, सम्पत्ति और जीवन तो वे अवसर हैं जो विज्ञान हमें दे सकता है, लेकिन इन अवसरों का उपयोग हम कैसे करें यह तो केवल दर्शन ही बता सकता है। प्लैटो कहते हैं—"ज्ञान का जीवन--भले ही उसमें सभी विज्ञान भी सम्मिलित हों--सुख और कल्याण की सृष्टि नहीं कर सकता; यह तो ज्ञान की केवल एक ही शाखा कर सकती है—सत् और असत् का विज्ञान। इसके बिना औषधि-ज्ञान हमें स्वास्थ्य दे सकेगा, नाविक-कला सागर में जीवन रक्षा कर सकेगी, दाँव-पेंच युद्ध जीत सकेंगे लेकिन उस सत् और असत् के ज्ञान बिना इन सबका उपयोग और इनकी उत्तमता हमारा साथ न दे सकेगी।" प्रसिद्ध पुस्तक दि ग्रेट लर्निंग (The Great Learning) में यह स्पष्ट बताया गया है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास के साथ विश्व-शान्ति और सौहार्द्य का कैसा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। "अपने ज्ञात विश्व में ज्योतिर्मय विभूतियों का उदाहरण रखने के इच्छुक पूर्वज पहिले अपने-अपने राज्य की सुन्दर व्यवस्था करते थे; अपने राज्य को व्यवस्था सुधारने की इच्छा रखनेवाले वे लोग पहिले अपने परिवारों की व्यवस्था सुधारते थे; अपने परिवारों को व्यवस्थित करने के इच्छुक वे लोग

पहिले अपने व्यक्तित्व का संस्कार करते थे; अपने व्यक्तित्व का संस्कार करने के इच्छुक वे लोग पहिले अपने हृदयों को स्वच्छ बनाते थे; अपने हृदयों का शोधन करने के इच्छुक वे लोग पहिले अपने विचारों में सत्य-व्रत होने का लक्ष्य रखते थे--वस्तुओं को उनके यथातथ्य रूप में देखने का प्रयत्न करते थे; विचारों में सत्य-व्रत होने के इच्छुक वे लोग पहिले यथासम्भव अधिक-से-अधिक अपने ज्ञान का विस्तार करते थे; ज्ञान का यह विस्तार वस्तुओं की परख और उनकी खोज में है।" विज्ञान और नीति-शास्त्र अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। हमें एक निर्देश-संविध की, जीवन की एक व्याख्या की, आवश्यकता है जो शक्तियों और विचारों के वास्तविक घात-प्रतिघात को स्पष्ट कर सके और उन्हें उपयुक्त मार्ग दिखा सके। हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि मनुष्य का निर्माण किस लिए हुआ है और तब अपने आपको उसके लिए तैयार करना चाहिए। एक सामाजिक जीव के रूप में हम इस-लिए असफल हो गये हैं कि हमारे जीवन की समस्त शक्तियों का उपयोग एक ग़लत उद्देश्य के लिए किया गया है। जीवन के उद्देश्यों की एक समुचित अवधारणा (दर्शन) हमें चाहिए और चाहिए उस अवधारणा की सिद्धि के लिए एक अनुशासन (धर्म)।

ऐसे लोग भी हैं जो चीन और भारत की राजनीतिक और आर्थिक अधोगति को देखकर कहेंगे कि दार्शनिक अध्ययन व्यर्थ है, पर पूर्व की राजनीतिक असफलता से दार्शनिक विवेक की अशक्ति ठीक वैसे ही सिद्ध नहीं हो सकती जैसे वर्तमान युद्ध से विज्ञान के सत्य और उसकी भावना को असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। विज्ञान मानवता का विनाशक केवल इसलिए सिद्ध हो रहा है कि उसकी शक्तियों का प्रयोग बर्बर हाथों से ही रहा है। यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि सत् साधनों

का प्रयोग दुर्वृत्त हाथों से होने पर वे सत् साधन भी ग़लत काम करते हैं। दर्शन अप्रभावकारी सिद्ध हुआ है इसलिए कि प्रकृति के ऊपर मानव-नियंत्रण से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया जो उसके आदर्शों की मूर्त अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। विश्व में अपने कर्तृत्व के लिए दर्शन विज्ञान का सहारा चाहता है और विज्ञान व्यवहार में मार्ग-प्रदर्शन के लिए दर्शन का मुँह ताकता है। हमें ऐसा विवेक चाहिए जो ज्योतिस्फीत हो और वह ज्ञान चाहिए जो शक्ति हो।

शान्तिवाद

अपनी वृत्तियों से आप युगों से शान्तिवादी रहे हैं; आज आवश्यकतावश आप सैन्यवादी बन गये हैं। आपको न केवल युद्ध-क्षेत्र में अपने शत्रुओं से लड़ना पड़ रहा है बल्कि अपनी उस उच्च प्रकृति से भी आप लड़ रहे हैं जो आपको शान्ति और भाई-चारे की ओर प्रेरित करती है।[1] मुझे पूरा विश्वास है कि आप

---

[1] चीन में एक सैनिक की आजीविका अन्य सब आजीविकाओं से हेय थी। जापानी खतरे ने आजीविकाओं के इस मूल्य में परिवर्तन कर दिया है; मुझे आशा है कि वह परिवर्तन अस्थायी होगा। एक चीनी कहावत देखिये—"अच्छे लोहे का प्रयोग कीलें बनाने में नहीं किया जाता और न अच्छे मनुष्यों का प्रयोग उन्हें सिपाही बनाने में।" श्री मो-त्सू ने सभी आक्रमणकारी युद्धों की निन्दा की है और विश्वव्यापी निश्शस्त्रीकरण को प्रोत्साहन दिया है। श्री पो चुई ने एक कविता लिखी थी जिसका अनुवाद श्री वैलो ने किया है; इस अनुवाद का शीर्षक है 'छिन्न-बाहु वृद्ध' (The Old Man with the Broken Arm) और इसमें एक

ऐसा कुछ नहीं करेंगे जिससे आपकी इस अमूल्य विरासत को कुछ भी धक्का लगे; मुझे विश्वास है कि आप कभी भी नैतिक मूल्यों की कल्याण-क्षमता पर अपना विश्वास नहीं खोयेंगे, कभी भी आप सैनिकवाद के शिकार होकर यह नहीं कहेंगे 'बुराई तू ही मेर मंगल बन', क्योंकि वह चीन की सबसे बड़ी पराजय होगी। दारिद्रय, संकट और दीनता की इस सबसे कठिन घड़ी में संसार को एक नवीन आशा दिलाना पूर्व का ही काम है।

ऐसे रंगरूट को वीर नायक बनाया गया है जिसने सैनिक सेवा से बचने के लिए अपने आपको अपंगु बना लिया (A Hundred and Seventy Chinese Poems, E. T. by Waley (1923), पृष्ठ १३९-४१)। चीन ही एक ऐसा अकेला देश रहा है जहाँ राजा या सम्राट् सैनिक पोशाक नहीं पहनते थे। शान्तिवाद चीन की प्रकृति में जड़ें जमाये है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि अपने लम्बे इतिहास में चीन निरन्तर अविच्छिन्नरूप से उसका पालन करता रहा है। चीन की महान् दीवार स्वयं इस बात का प्रमाण है कि अविरत संघर्ष होते रहे हैं। जब श्री कन्फ़्यूशियस से बुराई के बदले भलाई करने के प्रसिद्ध सिद्धान्त के सम्बन्ध में पूछा गया तो उन्होंने कहा—"तो फिर भलाई के बदले क्या किया जायगा? ज़्यादा अच्छा होगा कि आप अन्याय के बदले न्याय और भलाई के बदले भलाई करें।"—The Sayings of Confucius, by Giles (1924), पृष्ठ ६७।

३

चीन के शिक्षा-आदर्श

शिक्षा का महत्त्व

अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही चीन-वासियों ने सामाजिक व्यवस्था और उत्थान के लिए शिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया है। मनुष्य यदि अपने स्वभाव और गरिमा के अनुकूल अपना जीवन बिताना चाहे तो शिक्षा ही उसे इसके योग्य बना सकती है। समाज की युक्ति-युक्त व्यवस्था का केन्द्र-विन्दु व्यक्ति है। और उस व्यवस्था का विकास पारिवारिक जीवन, राजनीतिक शासन और विश्व-बन्धुत्व में होता है, रक्त-सम्बन्ध और आन्तरिक मानव-सद्भावना के कारण परिवार के संगठन में जो तत्त्व सहज जान पड़ता है उसी का विकास शनैः-शनैः वृहत्तर संगठनों में शिक्षा के द्वारा होता है।

चीन में शिक्षा को अपनी जीविका बनानेवाले प्रथम व्यक्ति थे श्री कन्फ्यूशियस। उन्होंने परिव्राजक-आचार्य की परम्परा स्थापित की। समाज के सभी वर्गों तथा सभी स्तरों के लोगों को उन्होंने अपना शिक्षार्थी बनाया। प्राचीन चीन में सम्मान न पुरोहित का होता था, न सैनिक का, न शारीरिक श्रम करनेवाले का और न अधिकारी वर्ग का, सम्मान होता था आचार्य का, शिक्षक का। मनीषी या पंडित का यह सम्मान——समाज के शीर्ष-स्थान में उसकी प्रतिष्ठा——चीनी सभ्यता की

प्रधान विशेषता है। राजकीय पदों के लिए उच्च ग्रन्थों में परीक्षा लेकर चुनाव करने की परम्परा ने ज्ञान के प्रति सम्मान की भावना व्यापक और दृढ़ बना दी और वंशानुगत कुलीनता का विकास न होने दिया।

रेशम रँगनेवाले रंगरेज़ को अपना काम करते देख श्री मो-त्सू[१] ने उसाँस भरी और कहा--"जो कुछ नीले रंग में डुबो दिया जाता है, नीला हो जाता है; जो कुछ पीले रंग में डुबो दिया जाता है, पीला हो जाता है; जब रेशम को किसी दूसरे रंग में रँगा जाता है तो वह दूसरा हो जाता है; पाँच बार रँगे जाने पर वह पाँच बार अपना रंग बदलता है; इसलिए रँगने का काम बड़ी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।" मनुष्य की प्रकृति शुद्ध श्वेत रेशम की तरह है और हम उसको कौन-सा रूप देने जा रहे हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस रंग में रँगा जाता है। शिक्षा-यंत्र और रेडियो तथा छापेखाने आदि के आधुनिक यंत्रों के प्रयोग से हम एक नितान्त नवीन मानव-कोटि का निर्माण कर सकते हैं। यूनान के लोग शिक्षा का उपयोग नागरिक गुणों के विकास में करते थे, रोम के लोग शिक्षा का उपयोग राष्ट्र-निष्ठा और आज्ञानुवर्तन की भावनायें उत्पन्न करने में। सोवियत रूस अपने युवकों को एक वर्गविहीन समाज के लिए शिक्षित करता है और नाज़ी जर्मनी जर्मन-आधिपत्य और नार्डिक जाति की सर्वप्रभुता के आदर्शों के लिए। एक असत् शिक्षा के प्रयोग से हम नवयुवकों को उनकी सत्य प्रकृति से दूर ले जाकर, प्रलोभन देकर, उन्हें अमानवीय कृत्यों में आनन्द लेने के लिए तैयार करते हैं। जाति-द्वेष,

---

१ Ch. III.

विदेशियों से अरुचि, विनम्र लोगों से घृणा और गुण्डों का समादर सब असद्शिक्षा के परिणाम हैं।

मानव-प्रकृति

यदि हम मनुष्यों को विकृत और अप्राकृतिक न बनायें तो स्वभावतः वे सद्गुणशाली होंगे। श्री लाओ-त्सू कहते हैं––"महोदय, आप पहिले अपनी प्रवृत्तियों को मुक्त कीजिए और धर्म (ताओ) का अनुसरण कीजिये। इतना ही पर्याप्त है। तो फिर पवित्रता और मानव-हृदयता के पीछे इतने व्यर्थ के संघर्ष क्यों, मानों किसी बच्चे की खोज में ढोल बजाया जा रहा है? बड़े खेद की बात है महोदय, आपने मनुष्य की मौलिक प्रकृति को अस्त-व्यस्त कर दिया है।" स्वभावतः मनुष्य की प्रेरणा धार्मिक बने रहने की होती है और यदि इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में हस्तक्षेप न किया जाय तो सब ठीक-ही-ठीक रहे। श्री मेन्शियस कहते हैं—"सद्वृत्तियों की ओर मानव-प्रकृति की उठान ठीक वैसी ही है जैसी जल की प्रवृत्ति प्रवाह की ओर। जल में चोट मारकर उसे उछालकर आप अपने मस्तिष्क पर ला सकते हैं, बाँध बनाकर ऊपर चढ़ाकर आप उसे पहाड़ी पर ले जा सकते हैं; लेकिन जल की यह ऊर्ध्वगति उसकी स्वाभाविक गति के अनुरूप नहीं है। इस गति का कारण है वह शक्ति जो आप लगाते हैं। जब मनुष्य ऐसे काम करते हैं जो भले नहीं हैं तब उनकी प्रकृति के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार या हस्तक्षेप किया गया होता है।" सद्गुण मनुष्य के लिए आकस्मिक और अनित्य नहीं हैं; दुष्टता है। श्री कन्फ्यूशियस ने हमें बताया है— "अपनी मूल प्रकृति में मनुष्य एक-दूसरे से बहुत अधिक मिलते-जुलते

हैं। अपनी अर्जित आदतों में वे एक-दूसरे से बहुत दूर चले जाते हैं।"[१] श्री मेन्शियस कहते हैं--"यदि मनुष्य दुष्ट हो जाता है तो यह उसके मौलिक गुणों का दोष नहीं है। कृपा-करुणा की भावना सभी मनुष्यों में पाई जाती है, आदर-सम्मान की भावना सभी मनुष्यों में पाई जाती है, सत्-असत् की भावना सभी मनुष्यों में पाई जाती है। कृपा-भावना वह है जिसे हम उदारता या दानशीलता कहते हैं। लज्जा की भावना वह है जिसे हम न्याय और धर्म की भावना कहते हैं। आदर की भावना वह है जिसे हम सद्व्यवहार कहते हैं। सत्-असत् की भावना वह है जिसे हम विवेक या नैतिक चेतना कहते हैं। उदारता, न्याय व धर्म-निष्ठा, सद्व्यवहार और नैतिक चेतना ऐसी वस्तुयें नहीं हैं जो हमारे भीतर बलात् ऊपर से लादी जाती हों; वे मूलतः हमारे साथ वर्तमान हैं; हम केवल उन्हें प्रायः भूल जाते हैं। इसीलिए कहा गया है--'खोजो और तुम उसे पाओगे; उसकी ओर से असावधान रहो तो उसे खो दोगे।'"[२] इस प्रश्न का कि जब हम सभी मनुष्य हैं तो ऐसा क्यों है कि कुछ बड़े आदमी हैं, कुछ छोटे, श्री मेन्शियस ने यह उत्तर दिया है--"जो अपनी महत्ता के प्रति सजग रहते हैं वे महान् व्यक्ति हो जाते हैं और जो अपनी लघुतर सत्ता के प्रति सजग रहते हैं वे छोटे आदमी बन जाते हैं।"[३] वे यह बात स्वीकार करते हैं कि "हमारे निर्माण में एक उच्चतर और एक निम्नतर प्रकृति है, एक लघुतर और एक महान् आत्म-तत्त्व है। अपनी उच्चतर प्रकृति की अवहेलना कर मनुष्य को अपनी निम्न प्रकृति का विकास नहीं करना चाहिए, अपने महान् आत्म-तत्त्व को भुलाकर

---

[१] Lun Yu, XVII. 2.
[२] Mencius, VI. I.
[३] Ibid.

लघुतर आत्म-तत्त्व को विकसित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"[1] हम अपने उन गुणों का विकास नहीं करते जो मानव की अपनी विशेषतायें हैं—मैत्री, करुणा, निर्दयता से घृणा—और उन प्रवृत्तियों का विकास करते हैं जिनमें हम पशुओं के समान हैं—लोभ, आतंक, निर्दयता, और इस प्रकार नर-पशु बन जाते हैं। १९ फ़रवरी, सन् १९३९ को रिवरसाइड चर्च में उपदेश देते हुए डाक्टर हैरी इमरसन फाज़डिक ने कहा था—"इस दृष्टि से हम मनुष्य कुत्तों से कितना मिलते-जुलते हैं! क्योंकि जब एक कुत्ता भौंकता है तो उसके उत्तर में दूसरा भौंकता है और तब पहला और ज़ोर से भौंकता है और दूसरा उससे भी ज्यादा ज़ोर से और इस प्रकार वैमनस्य का यह ज्वर ऊँचे उठता जाता है। इसी लिए एक व्यक्ति ने अपने टेरियर (शिकारी कुत्ता) के व्यवहार को दूसरे टेरियर के मालिक के सम्मुख उचित सिद्ध किया। उसने कहा—'आखिरकार कुत्ता भी तो मनुष्य ही जैसा है!'" सम्भवतः हम लोग पशुओं के प्रति ठीक-ठीक न्याय नहीं करते। यदि वे हत्या करते हैं तो तभी करते हैं जब वे भूखे होते हैं या जब उन पर आक्रमण किया जाता है। वे भाव-शून्य कारणों से दूसरों को चोट पहुँचाने या उनकी हत्या करने में मज़ा नहीं लेते। यदि हम आज एक पागल कुत्तों के संसार में रह रहे हैं जो अपनी आत्मघाती बर्बरता से ही बद्ध और उसी का बन्दी है तो इसके लिए बहुत अंशों तक हमारी शिक्षा ही उत्तरदायी है।

श्री मेन्शियस कहते हैं—"मनुष्य पक्षियों से और पशुओं से जिस बात में भिन्न है वह बहुत हल्की-सी बात है। अधिकांश मनुष्य इस अन्तर को भी बहा देते हैं; केवल कुछ उच्चकोटि के मनुष्य उस अन्तर

---

[1] Mencius, VI. I.

को सुरक्षित रखते हैं।"[१] मनुष्य को अन्य जीवों से पृथक् रखनेवाली उसकी ऐन्द्रिय भूख और पिपासा नहीं है, यह तो अन्य जीवों में भी सामान्य है; यह अन्तर है मनुष्य में भलाई की ओर प्रवृति, धर्म का प्रेम। श्री अरस्तू का कहना है कि भूख और इच्छायें तो मनुष्यों और पशुओं में एक-सी हैं। मनुष्य को पशु से उच्च बनाती है उसकी तर्क या विवेक शक्ति। श्री मेन्शियस कहते हैं कि "मस्तिष्क का गुण है विचार।" उन्होंने मनुष्य की स्वाभाविक सद्वृत्ति का दृष्टिकोण प्रसारित किया था, यह मान्यता कि मनुष्य अपने सहजीवियों का कष्ट नहीं देख सकता। कष्ट में पड़े जीव की सक्रिय सहायता करना एक ऐसी इच्छा है जो हर अविकृत मानव-हृदय में उपस्थित रहती है। भलाई के अंकुरों का विकास करना मनुष्य बनना है; उन अंकुरों को मुरझाने और मर जाने देना मनुष्य से निम्न बनना है। जहाँ एक ओर श्री मेन्शियस ने मनुष्य की अन्तर्गूढ़ भलाई की बात कही है वहाँ श्री हून-त्सू ने ठीक इसकी उलटी बात कही है; मनुष्य की तत्वतः बर्बर प्रकृति पर ज़ोर दिया है।[२] मनुष्य नैतिकता के नियमों का अभ्यास करने से ही धार्मिक बन सकता है। नैतिकता मनुष्य के स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है। अपनी प्रवृत्तियों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहने से नैतिकता प्राप्त होती है। सद्वृत्ति एक ऐसा गुण है जो मनुष्य पर ऊपर से लादा जाता है।[३] इस विवाद की प्रतिमूर्ति

[१] Mencius, IV. b.19.

[२] इसकी बायरन के कथन से तुलना कीजिये--"मनुष्य एक दो पैरोंवाला विषैला जीव है जो बहुत चालाक है।"

[३] श्री यांग सियंग का मत था कि सत्य इन दोनों सिद्धान्तों के बीच में है। मनुष्य का स्वभाव नैतिक दृष्टि से तटस्थ है और सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि शिक्षा उसके लिए क्या करती है।

ईसाई-धर्म में हमें उस विवाद में मिलती है जो सन्त आगस्टाइन और पेलॉजियस के बीच चला था और जिसमें चर्च ने यह निर्णय दिया था कि मनुष्य को स्वभावतः भला माननेवाला विचार एक किंवदन्ती है। सन्त आगस्टाइन के बाद यही निर्णय ईसाई योरोप का प्रधान सिद्धान्त बन गया।

मनुष्य के स्वभाव में एक ऐसा मूल पदार्थ सम्मिलित है जिसके साझीदार पशु भी हैं। लेकिन मनुष्य को एक ऐसी शक्ति भी प्राप्त है कि उस पदार्थ को एक ऐसे गुण — ऐसी विभूति—से सम्प्रेरित कर दे जो उसके विशिष्ट स्वभाव की विशेषता है। जब श्री कन्फ़्यूशियस यह कहते हैं कि हमें जेन, भ्रातृ-भावना और हार्दिक मानवता प्राप्त करना चाहिए, जब भगवान् बुद्ध हमारे सामने प्रज्ञा अथवा ज्ञान और मैत्री के आदर्श रखते हैं, जब श्री लाओ त्सू हमें आदेश देते हैं कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को मुक्त करके हम अपने अस्तित्व के विधान के अनुकूल बनें और जब श्री मेन्शियस हमसे अपने भीतर के मनुष्य का विकास करने को कहते हैं तब इन सबका यही कहना होता है कि हम अपनी उच्चतर प्रकृति का विकास करके अपने संगी मानव-समाज के साथ शांति और प्रेम पूर्वक रहने में समर्थ होते हैं।

परम्परा की शक्ति

युगों से चीन परम्परा की शक्ति पर विश्वास करता आ रहा है।[१]

१ अपने एकान्त एकाकीपन को पूर्ण करने के उद्देश्य से चीन का महान् प्रयत्न महान् दीवाल बनाने में व्यक्त हुआ जिसे सम्राट् चिन शी ने दो हजार वर्ष से भी पहिले बनवाया था और जो समुद्र से लेकर तिब्बत की सीमा तक एक दुर्ग-प्राचीर की भाँति फैली है, यद्यपि कई बार इस दीवाल का पुनर्निर्माण और विस्तार भी किया गया है।

चीन के महान मनीषी नेता श्री कन्फ़्यूशियस को पुराने तरीक़े पसन्द हैं, वे पुराने ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, प्राचीन विधियों और रीतियों का पालन करते हैं और अतीत शक्तियों को स्वायत्त करने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि वही शक्तियाँ भविष्य का भी शासन करती हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का सबसे महान् गुण है अतीत के प्रति सम्मान, वृद्धों के सम्मुख विनम्र श्रद्धा। श्री मेन्शियस कहते हैं—"पूर्वशासकों के विधानों का अनुसरण करो तो यह असम्भव है कि तुम ग़लती करो।"[१] परम्परा परम सिद्धान्त है और इसीलिए कन्फ़्यूशियस की शिक्षा-प्रणाली स्थायी रह सकी है। हजारों वर्षों तक अनन्तर कलह और अशान्ति रहने पर भी परम्परा की अविच्छिन्नता नष्ट नहीं होने पाई। अतीत रीतियों और परम्पराओं की स्मृतियाँ चीन के आधुनिक जीवन में भी सबल हैं। चीनी सभ्यता के तात्त्विक नैतिक अंश उसके बाहरी ढाँचे की अपेक्षा अधिक दृढ़ सिद्ध हुए हैं, उसकी मानवतावादी संस्कृति प्रस्तर और ताम्र की अपेक्षा अधिक स्थायी सिद्ध हुई है।

परम्परा-शासन के विरुद्ध आवाज भी उठाई गई है। सम्राट् शी हुआंग-ती जो २२१ ई० पू० में समूचे साम्राज्य के अधिपति बन गये थे और जिनकी २१० ई० पू० में मृत्यु हुई थी, चीन के प्रथम महान सम्राट् माने जाते हैं। वह न केवल चीन की महान दीवाल बनवाने और सामन्तवाद समाप्त करने के लिए प्रसिद्ध हैं बल्कि ग्रन्थों के जलाने के लिए भी प्रसिद्ध हैं।[२] उन्होंने पुस्तकों को इसलिए जलवाया ताकि उन्हें कोई इस बात का स्मरण न दिला सके कि उनके शासन-

---

[१] Mencius, IV. 1.I.

[२] यद्यपि उनका राज्य उनके पुत्र के साथ समाप्त हो गया, परन्तु चीन शब्द उनके परिवार के नाम त्सिन या चिन से उद्भूत हुआ है।

काल से पहिले भी चीन की स्थिति थी और इसलिए भी कि वह उन शिक्षित व्यक्तियों का प्रभाव समाप्त करना चाहते थे जो परम्परा के नाम पर सभी सुधारों का विरोध करते थे। लेकिन उन्होंने भी उन किताबों को जलाने से बचा दिया जिनका सम्बन्ध आयुर्वेद और ओषधि-निर्माण, ज्योतिष, कृषि और वनस्पति-शास्त्र से था। उन्हें वह विषय प्रिय थे जिनकी तात्कालिक व्यावहारिक उपयोगिता थी। उनके दृष्टि-कोण से हमें एक शिक्षा मिलती है; यह कि परम्परा का उपयोग सुधार का बाधक बनाकर नहीं करना चाहिए। जब परम्परा यांत्रिक बन जाती है तब उसकी आत्मा मर जाती है।

यद्यपि श्री कन्फ्यूशियस ने सामन्तवाद का समर्थन किया था फिर भी सामन्तवाद का विनाश होने पर कन्फ्यूशियसवाद को हानि नहीं पहुँची। अपने युग की भावना के अनुकूल श्री कन्फ्यूशियस स्त्रियों को एक पराधीन जाति समझते थे। लेकिन स्त्रियों की वर्तमान मुक्ति श्री कन्फ्यू-शियस की भावना का उल्लंघन नहीं मानी जाती। जो समाज स्थिर-जड़ नहीं है उसमें अनेक परिवर्तन करने ही होंगे। परिवर्तन के लिए प्रस्तुत रहना जीवित संगठन का लक्षण है; और परिवर्तन का प्रतिरोध पतन की निशानी है। "जब जन्म होता है तब मनुष्य कोमल और दुर्बल रहता है, मृत्यु में वह सख्त और कठोर हो जाता है।"[१] जब हम जीवित रहते हैं तब कोमल और नमनशील होते हैं। जब कठोर पड़ते हैं तो मृत्यु का आलिंगन करते हैं। "अति बुद्धिमान् और अति मूर्ख ही कभी बदलते नहीं हैं।"[२] श्री कन्फ्यूशियस का सिद्धान्त अपने आपको आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में पर्याप्त नमनशील है। पैरों का बाँधना और बालों की

१ Tao Te Ching, LXXVI.
२ Analects, XVII. 3.

चोटियाँ रखना समाप्त हो गया है और अन्य अनेक अन्धविश्वास भी समाप्त हो जायँगे।

विज्ञान की आवश्यकता

प्रारम्भ से ही चीन के लोग नवीन विचारों के प्रति उदार रहे हैं और नई अपेक्षाओं के अनुकूल बदलते गये हैं। विदेशियों के विरुद्ध उन्होंने निषेध-प्राचीरें नहीं खड़ी की हैं, बल्कि उन्मुक्त हृदय और मस्तिष्क से उनका स्वागत किया है। पाश्चात्य विज्ञान और यंत्र-कौशल द्वारा उन्होंने अपने आपको परिवर्तित और निर्मित होने दिया है। चीन की शिक्षा का उद्देश्य था मानव-समाज को एक आदर्श स्थिति प्राप्त करने की व्यावहारिक समस्या को हल करना, न कि प्रकृति के वाह्य पदार्थ-स्वरूप का अध्ययन। साहित्यिक परीक्षायें ही जन-सम्मान और राजनीतिक पदाधिकार-प्राप्ति का एकमात्र साधन थीं; और इन परीक्षाओं ने चीन के लोगों में एक प्रधानतः सैद्धान्तिक अभिरुचि उत्पन्न कर दी।[1] लेकिन ज्ञान केवल साहित्यिक ही नहीं है,

[1] जो चार पुस्तकें चीनी शिक्षा का आधार और चीनी चरित्र की विधायक शक्तियाँ रही हैं वे हैं--दि ग्रेट लर्निंग, दि डाक्ट्रिन आफ़ दि मीन, अनालेक्ट्स और मेन्शियस। कन्फ़्यूशियस के विद्यालयों में जो छः पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं उन्हें श्री चूआंग त्सू (Ch. XXXIII) ने इस प्रकार गिनाया है--"(१) दि शिह, जिसमें उद्देश्य वर्णित हैं; (२) दि शू, जिसमें घटनायें वर्णित हैं; (३) दि ली, (धार्मिक पूजायें) जिसमें आचार-सम्बन्धी आदेश हैं; (४) दि यूह (संगीत), जो समन्वय स्थापित करता है; (५) दि आई (परिवर्तन-सम्बन्धी ग्रन्थ), जिसमें यिन और यांग के सिद्धान्तों की चर्चा है और (६) चुन चिऊ, जिसमें विभेदों और कर्तव्यों का वर्णन है।"

यह वैज्ञानिक भी है। प्रारम्भिक दिनों से ही केवल साहित्यिक शिक्षा-विधि के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित किया जाता रहा है। श्री चुआंग त्सू ने कठोर आघात किये हैं—"आप तो केवल शब्द-व्यवसायी हैं जो सम्राट् वेन और सम्राट् वू के सम्बन्ध में अर्थहीन बकवाद करते हैं। (सम्राट् वेन और वू चाऊ-राजवंश के प्रतिष्ठाता थे।) आपके पास शब्द बहुत से हैं जो भ्रम उत्पन्न करते हैं। आप कपड़े सिलते नहीं हैं और फिर भी सिले कपड़े पहनते हैं; आपके होंठ बड़बड़ाते हैं और आपकी जबान कैंची-सी चलती है और आप अपनी कल्पना के सत्-असत् की सृष्टि करते हैं जिसके द्वारा संसार के शासकों को ग़लत रास्ता बताते हैं और विद्वानों को पदार्थों और समस्याओं के मूल तत्वों तक पहुँचने से विमुख करते हैं।" श्री चेंग-यी और श्री चू-सी के मत में प्रकृति के पदार्थमूलक शोध का महत्त्व सिखाया जाता था। लेकिन, चूँकि प्रकृति के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करने की कोई परम्परा नहीं रही, इसलिए, यह विषय-प्रधान शोध-प्रणाली मानव-स्वभाव और इतिहास के अध्ययन तक ही सीमित रही।

भारत की भाँति चीन को भी विज्ञान और यंत्र-कौशल की ओर अधिक ध्यान देना होगा। हमें अच्छी सड़कों और रेलों की आवश्यकता है, अधिक फैक्ट्रियों और मशीनों और बिजली के व्यापक प्रयोगों की ज़रूरत है। अपने भोजन और स्वास्थ्य, रोज़ी-रोज़गार और सुरक्षा की समस्याओं से निपटने के लिए और मानव-समाज की वह परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए जिनसे जीवन अधिक ग्राह्य बन सके चीन को विज्ञान का पूरा-पूरा प्रयोग करना होगा। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि आज आपके विद्यालय केवल अतीत-ज्ञान की शिक्षा के ही केन्द्र नहीं हैं, वे आधुनिक विज्ञान और यंत्र-कला के भी शिक्षा-केन्द्र हैं।

ज्ञान-पिपासु

श्री कन्फ़्यूशियस ने हमें शिक्षा के वे सिद्धान्त बताये हैं जो आज भी उतने ही सत्य-स्वस्थ हैं जितने वे स्वयं उनके समय में थे। सत्य की खोज एक बौद्धिक प्रक्रियामात्र नहीं है। उसकी सफलता के लिए बौद्धिक सजगता और सबलता तथा मस्तिष्क की धारणा-शक्ति ही नहीं पर्याप्त है, उसके लिए माया-जाल और बाधाओं से मुक्ति, स्वस्थ विवेक, विनम्रता और सत्यनिष्ठा की आवश्यकता है। सत्यान्वेषी के लिए ईर्ष्या-द्वेष-विमुक्त होना आवश्यक है। श्री कन्फ़्यूशियस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह "चार चीज़ों से नितान्त मुक्त थे--उनकी कोई पूर्व-धारणायें नहीं थीं, कोई पूर्व-निश्चय नहीं थे, हठ नहीं था और कोई अहंभाव नहीं था।"[1] विनम्रता सत्यान्वेषी की विशेषता है। "साहित्य के क्षेत्र में तो सम्भवत: मैं दूसरों के साथ अपनी तुलना कर सकूँ पर यदि भद्र जीवन बिताने की बात हो तो वह मैं अभी प्राप्त ही नहीं कर पाया।"[2] और भी "जहाँ तक सन्त या विभूति-सम्पन्न व्यक्ति होने की बात है, भला मैं ऐसा दावा करने की हिम्मत कैसे कर सकता हूँ? लेकिन अगर ऐसा जीवन प्राप्त करने के लिए अथक प्रयत्न की बात हो और निरन्तर दूसरों को उसके सम्बन्ध में उपदेश देने की बात हो तो यह बात मेरे सम्बन्ध में कही जा सकती है और इतना ही अलम् है।"[3] यह कथन हमें भगवान् बुद्ध की याद दिलाता है जिन्होंने सारिपुत्त को इसलिए डाटा था कि वह उन्हें संसार का सबसे महान् व्यक्ति मानते थे।

---

[1] Analects, IX. 4.
[2] Ibid., VII. 22.
[3] Ibid., VII. 23.

सारिपुत्त ने कहा था—"देव! मुझे ऐसा विश्वास है कि मेरी समझ में तथागत से महान् या अधिक बुद्धिमान् न कभी कोई हुआ था, न होगा और न आज है।" "बेशक सारिपुत्त"—भगवान् ने उत्तर दिया, "अतीत के सभी बुद्धों को तो तुम जानते ही हो?" "नहीं, देव।" "अच्छा तो भविष्य में होनेवाले बुद्धों को तो तुम जानते ही हो?" नहीं, देव।" "अच्छा तो कम-से-कम मुझे तो जानते ही हो और मेरे मन-मस्तिष्क के अन्तर्तम तक तुम्हारी पहुँच हो ही चुकी है?" "नहीं, देव। यह भी नहीं।" "तो सारिपुत्त फिर क्यों तुम्हारे शब्द इतने साहसपूर्ण और उदार हैं?"[१] अनुशासन और उग्र भावों का नियंत्रण एक सच्चे विद्यार्थी के लक्षण हैं। श्री कन्फ्यूशियस ने कहा था—"जो विद्वान् भोजन में बुभुक्षा की तुष्टि नहीं खोजता, अपने आवास में शरीर-सुख नहीं खोजता, अपने कर्म में जो परिश्रमी है, वाणी में संयमी है, उच्च विचारशील व्यक्तियों से जो सत्-संग करता है और इस प्रकार अपने को सत्पथ पर ले चलता है ऐसे ही व्यक्ति को सचमुच ज्ञान-लोभी कहा जाता है।"[२] ईमानदारी, उदारता और सत्य-प्रेम में उसका विकास होता है। श्री मेन्शियस के उस महान् उद्धरण को देखिये जिसमें यह कहा गया है कि वाह्य विफलता से घनी अन्तर्विभूति प्राप्त होती है—"इस प्रकार जब परमात्मा को किसी व्यक्ति को महान् पद देना होता है तो पहिले वह उसके मस्तिष्क को दुःख से और उसके अंगों और अस्थियों को परिश्रम से कसता है। वह उसके शरीर को भूखा रखता है, उसे आत्यन्तिक दीनता का शिकार बनाता है। उसके कामों को अस्त-व्यस्त कर देता है। इन सब विधियों से वह उसके मस्तिष्क को बल देता है, उसके स्वभाव को दृढ़ बनाता

[१] महापरिनिब्बाण सूत्त, १. ६१.
[२] Analects

है और उसकी अपूर्णताओं को पूर्ण करता है।……इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि कैसे दुःख और आपत्ति से जीवन का उल्लास फूटता है और कैसे सुख और सुविधा से मृत्यु आती है।"[१]

एक सच्चे शिक्षक को जिज्ञासु भी होना चाहिए। उसे "(अध्ययन में) अथक आयास करना चाहिए और दूसरों को (अनवरत) शिक्षा देनी चाहिए।" आधुनिक भाषा में कहें तो श्री कन्फ्यूशियस ने हमारे सामने शिक्षा और अनुसन्धान के दो आदर्श रखे हैं। ज्ञान का विकास उतना ही आवश्यक है जितना उसका प्रसार। विद्यार्थियों को न केवल अतीत ज्ञान का प्रसारक बनना होगा बल्कि नवीन-ज्ञान का शोधक भी। श्री कन्फ्यूशियस स्वयं एक जिज्ञासु अन्वेषी हैं। वे ऐसे हैं जो "जन्मना सत्य ज्ञानी नहीं हैं बल्कि जो सत्यान्वेषण में अथक परिश्रमी हैं। दस परिवारों के किसी भी पुरखे में आपको ऐसे धर्मात्मा और ईमानदार व्यक्ति कुछ मिल जायँगे जैसे वे स्वयं थे, पर उनका-सा ज्ञान-लोभी एक भी न मिलेगा।" उन्हें केवल एक ही महान् पश्चात्ताप हो सकता था—"अपने अध्ययन की उपेक्षा।" वे हर किसी से सीखने के लिए प्रस्तुत थे। "यदि मैं दो व्यक्तियों के साथ चल रहा हूँ तो उनमें से हरएक मेरे लिए शिक्षक का काम दे सकता है। मैं उनमें से एक के सद्गुणों को चुन लूँगा और उनका अनुकरण करूँगा; दूसरे के दुर्गुणों को देखूँगा और उनसे अपना सुधार कर लूँगा।"[२] "विचार-शून्य ज्ञान व्यर्थ है; ज्ञान-शून्य विचार घातक है।"[३] जब श्री कन्फ्यूशियस से एक शिक्षित व्यक्ति की विशेषता बतलाने को कहा गया तो वे बोले—"जो जानते हो

[१] VI. 2. 15.
[२] Giles: The Sayings of Confucius (1924), पृष्ठ ८६।
[३] II. 15.

जानो; और जानो कि जो नहीं जानते वह नहीं जानते--जो जानता है उसका यही लक्षण है।"

अपने अध्ययन से हमें तात्कालिक लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शुद्ध गणित के लिए एक परम्परागत टोस्ट—शुभकामना की प्रथा है--"परमात्मा करे वे सदैव व्यर्थ बने रहें।" हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अध्यक्ष श्री लावेल ने एक बार विश्वविद्यालय की परिभाषा बताते हुए उसे एक ऐसा स्थान कहा था जहाँ कुछ भी उपयोगी नहीं पढ़ाया जाता। जो लोग रोज़गारी शिक्षाओं को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जो साहित्य की शिक्षा को टाइप करने की शिक्षा के समान समझते हैं, उन्हीं लोगों की तीव्र भर्त्सना श्री लावेल के इस वार का लक्ष्य है। जिनका तात्कालिक व्यावहारिक उपयोग नहीं है वे विषय भी उपयोगी हैं। व्यावहारिक बुद्धिवाले श्री हूई त्सू ने जब श्री चुआंग त्सू से कहा--"आपके उपदेशों का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है" तो उन्होंने उत्तर दिया--"उपयोगी पदार्थों के सम्बन्ध में उन्हीं से बात की जा सकती है जो अनुपयोगी वस्तुओं का मूल्य-महत्त्व पहिले समझ चुके हों। यह धरती, जिस पर हम-आप चलते हैं, विशाल है लेकिन फिर भी चलने में मनुष्य अपने पैरों के नीचे आनेवाली नपी-तुली धरती के अलावा शेष का उपयोग नहीं करता। लेकिन कल्पना करो कि उसके पैरों के आस-पास की सारी धरती पाताल की गहराई तक खोद डाली जाय तो क्या पैरों के नीचे बचे हुए धरती के टुकड़े चलने में उसके काम आ सकेंगे?" श्री हूई त्सू ने कहा--"वे तो व्यर्थ होंगे।" श्री चुआंग त्सू ने कहा--"तो फिर अनुपयोगी की उपयोगिता स्पष्ट है।"[१]

[१] Waley: Three Ways of Thought in Ancient China (1939), पृष्ठ १७।

इस सबसे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि श्री कन्फ़्यूशियस द्वारा निर्धारित शिक्षा-प्रणाली व्यावहारिक आवश्यकताओं से असम्बद्ध थी। उसका लक्ष्य एक आलसी वर्ग शिक्षित करना नहीं था, बल्कि व्यस्त राजकर्मचारियों का वर्ग तैयार करना था। कुशल यंत्र-कलाविदों की सृष्टि करनेवाली वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली का व्यावहारिक उद्देश्य निस्संदेह वे नहीं सोच पाये थे, लेकिन यह उनका नहीं उनके युग का दोष है।

अपने विद्यार्थियों को भरती करते समय श्री कन्फ़्यूशियस किसी प्रकार के वर्ग-विभेद को नहीं अपनाते थे। इसके अतिरिक्त वे अपने विद्यार्थियों की सत्यनिष्ठा और क्षमता की जाँच करते थे। "जो सत्यनिष्ठ नहीं है उसे मैं कुछ नहीं समझाता; जो आत्म-प्रकाश का इच्छुक नहीं है, मैं उसकी सहायता नहीं करता। जब मैंने एक कोण प्रदर्शित कर दिया और विद्यार्थी शेष तीन कोण नहीं निकाल सकता तो फिर मैं अपना पाठ नहीं दुहराता।"[१]

हमारी शिक्षा द्वारा ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो मानव-भावना को छिन्न-भिन्न कर दे। निर्बन्ध निर्भय मानव-बुद्धि की निर्देशिका शक्ति को कुंठित नहीं करना चाहिए। शिक्षा के नाम पर हम मानव-कर्तृत्व को भ्रष्ट कर देते हैं और ज्ञान-स्रोतों को सुखा देते हैं। एक महान् शिक्षक अपने शिष्य को वह सब कुछ स्पष्टरूप से सिखा देता है जो समस्त पूर्व-चिन्तित ज्ञान-राशि में सर्वोतम है; पर उस पर विचार करने और अपना निर्णय निर्धारित करने का काम वह शिष्य पर ही छोड़ देता है। "यथा-इच्छसि, तथा कुरु"[२]; जैसी इच्छा हो, करो। प्रत्येक आत्मा का अपना

[१] Analects, VII. 8.
[२] भगवद्गीता, १८, ६३

एक आच्छादन है, वह आच्छादन हमें हटाना नहीं चाहिए। श्री कन्फ्यूशियस का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। "अतः अपनी शिक्षाओं में महत्तर मानव अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन तो करता है पर वह उन्हें खींचकर आगे अपने रास्ते पर नहीं लाता ; वह उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, उनकी प्रेरणा को दबाता नहीं; वह रास्ता दिखा देता है, पर लक्ष्य तक घसीटकर नहीं ले जाता।" चीनी लोग नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के महत्त्व पर बहुत जोर देते हैं; वह भावना, जिसे वे चुंग कहते हैं, पदार्थों की एक ऐसी संहिति की भावना है जो मनुष्य को अपने आत्मादेशों के पालन के लिए विवश करती है। प्रजातंत्र मानव-आत्मा और उसकी गरिमा के प्रति सम्मान है। प्रजातंत्र दीन और त्रस्त के प्रति भावनात्मक सहानुभूति नहीं है और न वह सर्वहारा की तानाशाही और जीवन के सभी क्षेत्रों पर शासक वर्ग का नियंत्रण है।

एक शिष्य ने श्री कन्फ्यूशियस से पूछा कि यदि उन्हें किसी राज्य का शासन-कार्य सौंप दिया जाय तो वे सबसे पहिला काम क्या करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया--"नामों की शुद्ध सटीक परिभाषा देना,"[१] शब्दों के अर्थ निश्चित करना। शब्दों को स्पष्ट सुनिश्चित अर्थ देने की यह पद्धति ठोस मानव-सम्बन्धों में काम आती है। जहाँ और जब शासक शासक रहता है, मंत्री मंत्री रहता है, पिता पिता रहता है और पुत्र पुत्र ; वहीं सत्शासन होता है। समाज एक दैवी सृष्टि है, दैवी आदेश है जो पाँच सम्बन्धों पर आधारित है—(१) शासक और शासित, (२) पति और पत्नी, (३) पिता और पुत्र, (४) अग्रज और अनुज या बड़े भाई और

[१] Analects, XIII. 3.

इस सबसे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि श्री कन्फ़्यूशियस द्वारा निर्धारित शिक्षा-प्रणाली व्यावहारिक आवश्यकताओं से असम्बद्ध थी। उसका लक्ष्य एक आलसी वर्ग शिक्षित करना नहीं था, बल्कि व्यस्त राजकर्मचारियों का वर्ग तैयार करना था। कुशल यंत्र-कलाविदों की सृष्टि करनेवाली वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली का व्यावहारिक उद्देश्य निस्संदेह वे नहीं सोच पाये थे, लेकिन यह उनका नहीं उनके युग का दोष है।

अपने विद्यार्थियों को भरती करते समय श्री कन्फ़्यूशियस किसी प्रकार के वर्ग-विभेद को नहीं अपनाते थे। इसके अतिरिक्त वे अपने विद्यार्थियों की सत्यनिष्ठा और क्षमता की जाँच करते थे। "जो सत्यनिष्ठ नहीं है उसे मैं कुछ नहीं समझाता; जो आत्म-प्रकाश का इच्छुक नहीं है, मैं उसकी सहायता नहीं करता। जब मैंने एक कोण प्रदर्शित कर दिया और विद्यार्थी शेष तीन कोण नहीं निकाल सकता तो फिर मैं अपना पाठ नहीं दुहराता।"[१]

हमारी शिक्षा द्वारा ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो मानव-भावना को छिन्न-भिन्न कर दे। निर्बन्ध निर्भय मानव-बुद्धि की निर्देशिका शक्ति को कुंठित नहीं करना चाहिए। शिक्षा के नाम पर हम मानव-कर्तृत्व को भ्रष्ट कर देते हैं और ज्ञान-स्रोतों को सुखा देते हैं। एक महान् शिक्षक अपने शिष्य को वह सब कुछ स्पष्टरूप से सिखा देता है जो समस्त पूर्व-चिन्तित ज्ञान-राशि में सर्वोत्तम है; पर उस पर विचार करने और अपना निर्णय निर्धारित करने का काम वह शिष्य पर ही छोड़ देता है। "यथा-इच्छसि, तथा कुरु"[२]; जैसी इच्छा हो, करो। प्रत्येक आत्मा का अपना

[१] Analects, VII. 8.
[२] भगवद्गीता, १८, ६३

एक आच्छादन है, वह आच्छादन हमें हटाना नहीं चाहिए। श्री कन्फ़्यूशियस का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। "अतः अपनी शिक्षाओं में महत्तर मानव अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन तो करता है पर वह उन्हें खींचकर आगे अपने रास्ते पर नहीं लाता ; वह उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, उनकी प्रेरणा को दबाता नहीं; वह रास्ता दिखा देता है, पर लक्ष्य तक घसीटकर नहीं ले जाता।" चीनी लोग नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के महत्त्व पर बहुत जोर देते हैं; वह भावना, जिसे वे चुंग कहते हैं, पदार्थों की एक ऐसी संहिति की भावना है जो मनुष्य को अपने आत्मादेशों के पालन के लिए विवश करती है। प्रजातंत्र मानव-आत्मा और उसकी गरिमा के प्रति सम्मान है। प्रजातंत्र दीन और त्रस्त के प्रति भावनात्मक सहानुभूति नहीं है और न वह सर्वहारा की तानाशाही और जीवन के सभी क्षेत्रों पर शासक वर्ग का नियंत्रण है।

एक शिष्य ने श्री कन्फ़्यूशियस से पूछा कि यदि उन्हें किसी राज्य का शासन-कार्य सौंप दिया जाय तो वे सबसे पहिला काम क्या करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया--"नामों की शुद्ध सटीक परिभाषा देना,"[१] शब्दों के अर्थ निश्चित करना। शब्दों को स्पष्ट सुनिश्चित अर्थ देने की यह पद्धति ठोस मानव-सम्बन्धों में काम आती है। जहाँ और जब शासक शासक रहता है, मंत्री मंत्री रहता है, पिता पिता रहता है और पुत्र पुत्र ; वहीं सत्शासन होता है। समाज एक दैवी सृष्टि है, दैवी आदेश है जो पाँच सम्बन्धों पर आधारित है—(१) शासक और शासित, (२) पति और पत्नी, (३) पिता और पुत्र, (४) अग्रज और अनुज या बड़े भाई और

---

१ Analects, XIII. 3.

छोटे और (५) मित्र। इनमें से प्रथम चार सम्बन्धों के पूर्व-पक्ष में शासन और द्वितीय पक्ष में समर्पण है। शासन पवित्रता और उदारता के साथ होना चाहिए और समर्पण पवित्रता और सत्यनिष्ठा के साथ। मित्रों के बीच सद्गुणों का स्वाभाविक विकास ही मार्ग-दर्शक सिद्धान्त होना चाहिए। मानव-समाज में प्रत्येक सदस्य अपने नाम के अनुरूप पद प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप उसके कर्तव्य और अधिकार-क्षेत्र होते हैं। इन नियमों का पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यापक और गम्भीर बुद्धि प्राप्त होती है—वह बुद्धि और ज्ञान जो जीवन से प्राप्त होता है, और वह व्यक्ति अपनी अव्याहत प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इन विभिन्न पदों या स्थितियों के उपयुक्त व्यवहार का निर्धारण करनेवाले नियम हमारी प्रथाओं में निहित हैं। इन प्रथाओं या रीतियों का पालन कराने के लिए बल-प्रयोग नहीं किया जाता। व्यक्ति की स्वतंत्र स्वीकृति आवश्यक होती है। धार्मिक कृत्य और संगीत वे शक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग मनुष्य के हृदय तक पहुँचने में किया जाता है। "चरित्र का निर्माण कवियों द्वारा, उसकी प्रतिष्ठा सद्व्यवहार के नियमों द्वारा और उसकी पूर्णता संगीत द्वारा होने दो।"[1]

बुद्ध की भाँति कन्फ्यूशियस भी कहते हैं—"मेरे शिष्यो! क्या तुम सोचते हो कि मेरे पास तुमसे गुप्त कोई रहस्य है? तुमसे छिपा कोई रहस्य मेरे पास नहीं है। मेरा यह नियम है मेरे शिष्यो, कि मैं तुम्हें सूचित किये बिना कुछ भी नहीं करता।"[2]

---

[1] Analects, VIII. 8.
[2] Giles: The Sayings of Confucius (1924), पृष्ठ ८६।

आत्म-संयम की आवश्यकता

श्री कन्फ्यूशियस के समय से ही चीन में शिक्षा का तात्त्विक उद्देश्य रहा है सद्व्यवहार और सद्गुणों की शिक्षा। एक बार एक शिष्य फान ची ने जब उनसे सद्गुण के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो गुरु ने बताया --"अपने व्यक्तिगत जीवन में विनम्र रहो, सार्वजनिक कामों के करने में गम्भीर रहो और सभी मनुष्यों के साथ सत्यनिष्ठ रहो। बर्बर लोगों के बीच पहुँच जाने पर भी अपने गुणों को मत छोड़ो।"[१] सहचर-भावना और व्यवहार में तदनुकूलता का विकास करने के लिए हमें आत्म-संयम के अन्तर्विधान का पालन करना होता है। सच्चे सुख के लिए आत्मानुशासन और सरल जीवन अनिवार्य है। सद्गुण का यह विकास पुस्तक-ज्ञान से सम्भव नहीं है। हमें सन्तों के उदाहरणों की आवश्यकता है, ऐसे सन्तों की जिन्होंने मौलिक सामाजिक संहिति की स्थापना करनेवाली अतीत प्रथाओं और परम्पराओं में अपने भीतर व्यक्तित्व और शिक्षा की शक्ति का विकास किया हो। दैनिक जीवन के धार्मिक विधानों से हमें अपना अनुशासन करना है। श्री कन्फ्यूशियस के इन शब्दों से हमें हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों की याद आ जाती है—"वह व्यक्ति जो भोजन के लिए सामान्य खाद्य—रूखा-सूखा भोजन—चाहता है, पीने को पानी चाहता है और अपनी बाँह की तकिया चाहता है, सुख अयाचित ही उसके चरण चूमेगा।" ग़लत उपायों से सांसारिक समृद्धि नहीं प्राप्त करनी चाहिए। "ऐसे उपायों से जिन्हें मैं जानता हूँ कि ग़लत हैं, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का विचार मुझसे उतनी ही दूर है जितनी

---

[१] Soothill: The Analects of Confucius, E. T. (1938), पृष्ठ ६।

दूर यह ऊपर उड़नेवाले बादल।[1]" अभी उस दिन आपके महाबलाधिकृत ने श्री कन्फ्यूशियस का उद्धरण देते हुए कहा था--"भूखों मरना चिन्ता की बात नहीं है, वास्तव में चिन्ता की बात है व्यक्तित्व का पतन।" श्री लाओत्सू ने कहा था—"महानतम विजेता वे हैं जो अपने शत्रु को बिना संघर्ष के ही जीत लेते हैं।" एक शिक्षित व्यक्ति के लक्षण हैं अपने पड़ोसियों के प्रति सहनशीलता और सबके प्रति दयालुता। श्री कन्फ्यूशियस के एक शिष्य ने कहा था--"आसमुद्र धरती पर सब भाई-भाई हैं।"

पर इन मानव-सद्गुणों का विकास करना सरल नहीं है। किसी व्यक्ति को पहाड़ा या मोटर की ड्राइवरी सिखा देना आसान है; लेकिन इस छोटे-से जीवन का सर्वोत्तम उपयोग करना सिखा सकना उतना आसान नहीं है। केवल अधिक ज्ञान हमारे जीवन को स्थिरता और सन्मार्ग नहीं दे सकता है। नैतिक चिन्तन नैतिक व्यवहार से भिन्न है।

भारत की भाँति चीन की भी महान आवश्यकता है सार्वजनिक भावना और सामाजिक उत्साह का विकास। 'नवजीवन आन्दोलन' (New Life Movement) के वार्षिकोत्सव पर आपके महाबलाधिकृत ने शिकायत की थी--"अधिकारी लोग बेईमान और ईर्ष्यालु होते हैं; जनता असंयमित और भावना-शून्य हो रही है; वयस्क उग्र स्वभाव के और सम्पत्तिशाली उद्धत हो रहे हैं। संक्षेप में हमारी समूची सामाजिक व्यवस्था और हमारा राष्ट्रीय जीवन अव्यवस्थित हो रहा है।" कन्फ्यूशियस का विश्वास है कि नैतिक आचार लागू करने का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण ढंग है व्यक्तिगत उदाहरण। मानव-स्वभाव

[1] Waley: The Analects of Confucius, E. T. (1938), VII. 15.

में अनुकरणशीलता प्रबल है। एक पिता अपने उदाहरण से अपने पुत्र को सिखा सकता है कि क्या ठीक है, क्या नहीं। एक राजकुमार, जिसकी तुलना पवन से की जाती है, जनता को, जिसकी तुलना घास से की जाती है, शिक्षा दे सकता है। "क्योंकि घास का यह स्वभाव है कि जब हवा उस पर चलती है तो वह झुक जाती है।" ऐसा कहने में उदाहरण की शक्ति की अत्युक्ति की गई है। और फिर आदर्श पिता या आदर्श राजकुमार हमें मिलते नहीं। अपने आदर्श के समीप पहुँचनेवाले शासक की खोज में श्री कन्फ्यूशियस असफल ही रहे। अकेले मानव-उदाहरण ही वह प्रेरक शक्ति नहीं उत्पन्न कर सकता जो मनुष्यों को सद्गुण-सम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक है।

महत्त्व-दर्शन

महत्ता के एक नवीन दर्शन से बौद्धिक ज्ञान और नैतिक अनुशीलता को बल देना है। इसी में एक मोहक मुक्ति-दायिनी शान्ति है। महान् मनीषी अपने प्रकाश से ही हमें दीक्षित कर लेते हैं। संसार की वर्तमान शुष्क, संदिग्ध और अस्त-व्यस्त परिस्थिति से पता चलता है कि कहीं केन्द्र में ही विशृंखलता है जिसने मनुष्य की आत्मा को उसकी आशा, शान्ति और सुबुद्धि से वंचित कर दिया है। मनुष्य शरीर और बुद्धि से कुछ अधिक है। वह आत्मा है, एक शुद्ध तत्त्व है, एक सर्जक है और मान-महत्त्वों का प्रेरक है। भौतिक विज्ञानों अथवा मनोविज्ञान, तर्क-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र या ललित कला और नीति-शास्त्र आदि में ही मानव-आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इन सब विद्याओं के अध्ययन का उपयोग आत्मा के विज्ञान या ब्रह्म-विद्या में करना होगा। बिना

६

इसके इन विद्याओं द्वारा मनुष्य-प्रकृति के पदार्थ-पक्ष में ही परिवर्तन हो पाते हैं। पदार्थ-तत्त्व के कुछ अणुओं का पुनस्संगठन करके और व्यक्ति की रुचियों और प्रेरणाओं का तारतम्य ठीक करके अर्थात् कुछ नवीन कलावृत्तियाँ सीखकर हम जीवन के संगठन में परिवर्तन ले आते हैं; लेकिन यह परिवर्तन केवल वाह्य-परिवर्तन है और जैविक या आन्तरिक परिवर्तन से भिन्न है। प्रकृति की सच्ची विजय अपनी विजय है—आत्मा की विजय है। संगठनकर्ताओं को स्वयं अपने आपको परिवर्तित करना होगा और यह तभी सम्भव है जब हमारे भीतर आत्मा की प्रेरणा हो। इस महत्त्व-दर्शन से रहित, परम तत्त्व पर इस विश्वास के बिना, मनुष्य पूर्णरूप से मनुष्य नहीं है। श्री कान्ट (Kant) का कहना है कि मनुष्य का विवेक अपने कर्तृत्व के सभी क्षेत्रों —ज्ञान, नैतिकता और सौन्दर्य—में असीमित, अनन्त और परम तत्त्व की माँग करता है; उनका तात्पर्य यही है कि हमारी प्रकृति इस दशा और सीमा के बन्धन से विद्रोह करती है। मनुष्य के रचनामूलक जीवन के लिए वास्तविकता का तत्त्वज्ञान आवश्यक है। ईश्वर-प्रेम वह निर्णायक तत्त्व है जो ज्ञान को कर्म में बदल देता है। अकेले यही मानव-हृदयता का गुण उत्पन्न कर सकता है।[1] बिना विवेक के ज्ञान अभिमानी बना सकता है और नैतिकता बर्बर बना सकती है। अनुशासन, आत्म-संयम, निष्ठा, आज्ञा-पालन और अपना जीवन होम देने तक की बलिदान-भावना ठगों और लुटेरों के समुदाय में भी अल्पाधिक देखी जाती है। ज्ञान और नैतिकता अमूल्य निधियाँ हैं पर उन्हें जीवन में परम पद नहीं दिया जा सकता। आत्मा को बुद्धि या इच्छा

[1] श्री मेंशियस कहते हैं—"मानव-हृदयता से सम्पन्न मनुष्य धरती पर अजातशत्रु होता है।" VII b. 3.

के स्तर पर नीचे नहीं गिराता है। अपनी सामाजिक विश्वास-हीनता, राजनीतिक माया-जाल और सामान्य छिन्न-मूलता से त्रस्त यह आधुनिक संसार अंध बुद्धिवाद का परिणाम है। श्री मो-त्सू कहते हैं—"जो परमात्मा के आदेश का पालन करते हैं वे विश्व भर को प्रेम करते हैं और दूसरों का कल्याण करते हैं······और जो परमात्मा के आदेश का विरोध करते हैं वे पक्षपात करते हैं, द्वेष-भाव रखते हैं और दूसरों को हानि पहुँचाते हैं।" मनुष्य जैसे-जैसे परमात्मा के समीप पहुँचते हैं वैसे-ही-वैसे वे परस्पर भी समीप आते जाते हैं। ईश्वर पर विश्वास रखनेवाले मानवता के साम्राज्य के मसीहा हैं। उनमें ज्ञान और प्रेम की शान्ति है। हिन्दू-विचारकों का विश्वास है कि आत्मा की परम सत्ता पर विश्वास रखने के रूप में धर्म मनुष्य के पूर्ण और सन्तुलित जीवन के लिए तात्त्विकरूप से आवश्यक है। शिक्षा का सच्चा उद्देश्य इस आत्म-साम्राज्य से परिचित कराना है। शिक्षा पुनर्जन्म है। हमारा प्रथम जन्म प्रकृति और आवश्यकताओं की दुनियाँ में होता है। हमारा पुनर्जन्म आत्मा और मुक्ति के लोक में होता है। इस पुनर्जन्म का साधन है एक व्यापक और गम्भीरतर ज्ञान जो उस समझदारी से कहीं अधिक बढ़कर है जो हमारा मस्तिष्क हमें देता है। हम केवल सामाजिक जीव नहीं हैं बल्कि अनन्त के यात्री हैं।

मनुष्य का जन्म एक आध्यात्मिक स्थिति के लिए होता है और एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में उसका उस स्थिति से निरन्तर सम्बन्ध रहता है। यह अनुसंधान कि हम इस दृश्य-जगत् से परे किसी भिन्न स्थिति के जीव हैं, मनुष्य की आत्मा को वह आवश्यक बल देता है जिससे वह अपना जीवन एक दैवी ढाँचे में ढालता है और वाह्य विश्व के दुराग्रह पर विजय पाता है। आज हमें जिस बात की आवश्यकता है वह एक

गम्भीर आध्यात्मिक चेतना का नवजागरण, एक रचनात्मक विश्वास की नवप्रतिष्ठा है। जैसे एक व्यक्ति को अपने सांसारिक साधनों के समाप्त हो जाने पर आत्मा के साम्राज्य का बोध होता है ठीक वैसे ही यह संसार, जो आज लाखों व्यक्तियों की विपन्नता और उनकी क्रमिक मृत्यु की स्थिति में अपनी असहाय अवस्था से विचलित हो रहा है, एक नवीन युग के द्वार पर पहुँच गया प्रतीत होता है। संसार में जितनी ही घनी कालिमा हो अरुणोदय उतने ही नज़दीक है। अपनी नवीन अन्तर्दृष्टि और बलिदानमयी भक्ति के साथ जब यह नव-आध्यात्मिक प्रतिष्ठा होगी तब हम युद्ध-मुक्त विश्व के समीप पहुँच जायँगे। शिक्षा का सच्चा उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह चरित्र की संहिति और आत्मा की सर्जन-भावना से पूर्ण व्यक्तियों का निर्माण करे।

बदलता हुआ चीन

चीन आज बड़ी तेज़ी से बदलता जा रहा है। हाल के दशकों में पश्चिमी विज्ञान और यांत्रिकता का प्रवेश बड़ी तेज़ी से हुआ है। विद्यालयों को नया आधुनिक रूप दिया जा रहा है। पश्चिम के प्रबल प्रभाव में आज वह सभ्यता बिखर रही है जो हज़ारों वर्षों से अपना विशिष्ट रूप बनाये बैठी थी ; और एक आध्यात्मिक किंकर्तव्यविमूढ़ता फैल रही है। आधुनिकता के पक्षपाती अनेक चीनियों का विश्वास है कि उनके सामने विकल्प दो ही हैं—या तो पश्चिम की वैज्ञानिक और यांत्रिक कुशलता का अनुकरण करें या आर्थिक और राजनीतिक दासता में पड़े रहें। लेकिन फिर भी मेरा विश्वास है कि चीन विश्व-व्यवस्था

में अपना व्यक्तिगत स्वरूप बनाये रहेगा क्योंकि उसने अतिसभ्यता के प्रभाव देख लिये हैं। प्रगति परिवर्तनमात्र नहीं है, बल्कि वह उत्थान है। यदि कल्याणकारी होना है तो परिवर्तन भीतर से और क्रमिक होना चाहिए। चीन के परिवर्तन संगठन-मूलक और सजीव होने चाहिए, उन परिवर्तनों में अतीत युगों के मान-महत्त्वों का क्षेम होना चाहिये, उनकी रक्षा होनी चाहिए, और साथ ही एक आधुनिक समाज के लिए आवश्यक कौशल भी अपनाया जाना चाहिए। यदि चीन यह कौशल अपना लेता है और प्रथम तत्त्व को छोड़ देता है तो वह एक औद्योगिक और सैन्यवादी राष्ट्र हो जायगा; पर वह अशान्त और दुःखी बना रहेगा। प्रगति और कार्य-कुशलता आवश्यक हैं, पर ये ही सब कुछ नहीं हैं। ये तो शांति और सुख के साधनमात्र हैं। बीते जमाने में चीन में ज्ञानार्जन एक निश्चित पद्धति का था और शिक्षकों की महत्त्वाकांक्षा यही होती थी कि वे अपने शिष्यों को एक व्यवस्थित समाज-पद्धति में अपने स्थान के ठीक उपयुक्त बना दें। उन शिष्यों को शिक्षा दी जाती थी कि जो कुछ परम्परागत है उसे पूर्ण मानें, शिक्षक को अच्युत समझें, माता-पिता को सर्वोच्च अधिकारी मानें और सम्राट् की आज्ञाओं को हमेशा ठीक समझें। अब चीन के विद्यार्थी क्रान्ति के बच्चे हैं और आज उनकी शिक्षा का उद्देश्य है उनकी शक्ति को बढ़ाना न कि घटाना, उनकी आत्मा का विस्तार करना न कि उसकी रक्षा करना, समाज को आगे बढ़ाना न कि उसे उसके वर्तमान रूप में सीमित रखना और प्रगति में बाधा डालना। अपनी सभ्यता के भौतिक पक्ष को सुधारने के लिए हम व्यावहारिक विज्ञानों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करें पर परम्परागत मानवतावादी भाव-धारा की उपेक्षा हमें नहीं करनी चाहिए।

श्री कन्फ्यूशियस की शिक्षा-पद्धति ने शिक्षकों को जीवन-व्यवस्था में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यद्यपि चीन नाम के लिए एक निरंकुश राजतंत्र था पर वास्तविक प्रभाव-शक्ति तो एक ज्ञानसिद्ध कुलीन वर्ग के हाथों में थी। ज्ञानियों के इस गणतंत्र की शक्ति से चीनी परम्परा की अविच्छिन्नता सुरक्षित रही। जीवन-पद्धतियों को बदलने का अधिकार विद्वानों को ही है क्योंकि उनमें आत्मा की शक्ति है और परखने की सुबुद्धि। आज जो लोग कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों की तात्त्विक गम्भीरता समझते हैं वे इन प्राचीन सिद्धान्तों को जीवित और वास्तविक बनाये रखने के लिए नवीन स्वरूप खोज निकालेंगे। चीनी विद्वानों की स्वाधीन और प्रसन्न अन्वेषणाओं से रचनात्मक और प्रभावकारी विचारों के अनेक बीज-बिन्दु निकलेंगे। ज्ञान एक सामाजिक प्रेरक शक्ति और राष्ट्रीय पुनरुत्थान का साधन बन जायगा।

४

चीन में धर्म : कन्फ्यूशियस का धर्म

चीन में जिन धर्मों का एक लम्बा इतिहास रहा है और जो चीनी जनता के मन और चरित्र के अंग बन गये हैं वे हैं कन्फ़्यूशियस का धर्म, ताओ धर्म और बौद्ध धर्म।[१]

प्राचीन धार्मिक मत

चीन के प्राचीन धर्म में, जिसे डाक्टर हू शी ने सिनिटिसिज़्म या चीनी धर्म कहा है, निम्नलिखित बातें शामिल थीं---एक परमेश्वर की पूजा, मृतात्माओं की पूजा, प्राकृतिक शक्तियों की पूजा, भले और बुरे के प्रतिफल पर विश्वास और भविष्य-दर्शन के विविध रूपों पर और उनसे होनेवाले कल्याण पर विश्वास।[२]

[१] "इन तीन में से प्रत्येक धर्म को सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त थी और तीनों को उनकी अनुकम्पा मिली हुई थी। इन तीनों धर्मों को देश के प्रतिष्ठित धर्म के तीन अंग या पहलू कहा जा सकता है।"---The Three Religions of China by Soothill (1929), पृष्ठ २।

[२] Religion and Philosophy in Chinese History, पृष्ठ ५ देखिये।

श्री कन्फ़्यूशियस के समय पूर्वी चीन के लोगों और पश्चिमी चीन के लोगों—शैंग और चाऊ लोगों—के विश्वासों का सम्मिलन हुआ। शैंग लोगों को भविष्य-दर्शन[१] पर विश्वास था और चाऊ लोगों को शैंग-ती या हाओ-तीन, अर्थात् स्वर्ग[२] या ईश्वर, की पूजा पर विश्वास था। चाऊ-राजवंश के नेताओं ने ताओ अथवा उस जीवन-पद्धति पर जोर दिया जिसे उन्होंने प्रकृति की आत्म-स्फूर्ति और उसकी व्यवस्था

---

[१] "चीन की सभ्यता में भविष्य-दर्शन के महत्त्व की अत्युक्ति नहीं की जा सकती। जहाँ तक हमें ज्ञात है चीन के सर्वप्रथम लेख भविष्य-वक्ता अस्थियों पर खोदे गये थे, जिनमें भविष्य-दर्शन के विषय और भविष्य-वक्ताओं के उत्तर व उनकी तिथियाँ लिखी हुई थीं। यह लेखन-कला, तिथिक्रम, इतिहास और साहित्य का परिणाम था। इसी से साहित्यिक शिक्षा और एक बौद्धिक वर्ग के प्रारम्भ का भी श्रीगणेश होता है, क्योंकि भविष्य-दर्शन और उपासना को दिये जानेवाले अत्यधिक महत्त्व ने और अस्थियों पर अंकित रहस्यपूर्ण चिह्नों के अर्थ-बोध की कठिनाई ने और विचाराकार-लिपि पर अधिकार पाने की कला ने विशिष्ट वर्ग को जन्म दिया········ जो ऐसे कामों के लिए विशेषरूप से दीक्षित किया जाता था।"—Symposium of Chinese Culture by Hu Shih, पृष्ठ २८।

[२] प्रारम्भ में स्वर्ग का अर्थ था स्वर्ग में रहनेवाले लोग, अर्थात् पूर्वज, जिनके अध्यक्ष थे सर्वप्रधान पूर्वज शैंग-ती, जो प्रथम पूर्वज थे। यह सर्वप्रधान पूर्वज शैंग-ती स्वर्ग—तीन (T'ien)—के साथ मिलकर एक हो गये। 'तीन' का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है—भौतिक आकाश, दैव जो मनुष्यों के जीवन पर शासन करता है, प्रकृति, नैतिक विधान और मानवरूप में व्यक्त ईश्वर।—A History of Chinese Philosophy, by Fung Yu-lan, E.T.(1937), पृष्ठ ३१ देखिये।

में खोज निकाला था। "ताम्रो का समादर करना स्वर्ग की अनुकम्पा पाना है।" ताम्रो की यह धारणा ऋग्वेद के ऋत का प्रतिरूप है जो प्रकृति, मनुष्यों और देवताओं के व्यवहार का नियंत्रण करनेवाली शक्ति है। यह विश्व व्यवस्था ही ताम्रो है जो पुरुष और प्रकृति, स्वर्ग और पृथ्वी, प्रकाश और अन्धकार के द्वैत्व के माध्यम से काम करती है। जब ये विरोधी एक संहिति में रहते हैं तो सब ठीक रहता है; जब उनकी संहिति बिगड़ जाती है तो आपदायें आती हैं।

सामाजिक स्थिति : छठी व पाँचवी शताब्दी ई० पू०

कन्फ़्यूशियस के समय चीन की स्थिति अशान्त थी। प्राचीन मानदंड ढीले पड़ गये थे; पूर्वागत परम्पराओं और तत्कालीन आचारों में मेल नहीं था। चाऊ-राजवंश के पतन के काले दिनों के सम्बन्ध में श्री मेंशियस ने लिखा है--"संसार का पतन हो गया था और सत्य तिरोहित हो चुका था। दुस्सिद्धान्त तथा हिंसात्मक कार्य सर्वव्यापक थे। अस्वाभाविक कृत्य--राजा की हत्या और पितृ-हत्या जैसे कृत्य --किये जाते थे। श्री कन्फ़्यूशियस भयभीत थे।" उनके लिए भौतिक या शरीरिक संकटों से अधिक दुखःदायी था दुश्शासन। एक बार उन्होंने ताई पर्वत के पार्श्व में एक सुनसान स्थान पर एक स्त्री का रोना सुना और अपने शिष्य को भेजा कि वह देखे वह स्त्री वहाँ क्यों रो रही है। "मेरे पति के पिता को यहाँ चीते ने मार डाला था, मेरे पति भी और अब मेरा पुत्र भी यहाँ इसी प्रकार मारे गये।" कन्फ़्यूशियस ने पूछा --"तो फिर ऐसे भयानक स्थान में तुम क्यो रहती हो?" स्त्री ने उत्तर दिया--"क्योंकि यहाँ कोई अत्याचारी शासक नहीं है।" कन्फ़्यूशियस

ने अपने शिष्यों से कहा--"विद्यार्थियो, याद रखो--अत्याचारी शासक एक चीते से भी अधिक निर्दयी होता है।" ईसा से पहले छठी और पाँचवीं शताब्दी में चीनी जन-समाज की अराजकतापूर्ण परिस्थितियों ने विचारवान् लोगों को बहुत व्यग्र किया और उन्होंने सामाजिक स्थिरता लाने और सामाजिक विकास को गति देने के उपाय सोचे। विभिन्न विचार-सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जिनमें से प्रधान श्री कन्फ़्यूशियस और श्री लाओ त्सू के सम्प्रदाय थे, जो चीन के प्राचीन धर्म के दो पक्षों पर ज़ोर देते हैं। सामाजिक और राजनीतिक पक्ष पर श्री कन्फ़्यूशियस ने ज़ोर दिया और साधना और रहस्यानुभूति के पक्ष पर श्री लाओ त्सू ने; लेकिन सामान्य जनता ने प्राचीन अन्धविश्वास, ब्रह्मवाद और जादू-टोने को अपनाया। और यही आज भी चीनी जनता का प्रचलित धर्म है। तत्कालीन परिस्थितियों से श्री कन्फ़्यूशियस और लाओ त्सू दोनों असन्तुष्ट थे। दोनों का विश्वास था कि बीते युगों में मनुष्य परस्पर भाई-भाई-सा व्यवहार करते थे और धनी निर्धनों का शोषण नहीं करते थे। दोनों ने ही अतीत को आदर्शरूप में चित्रित किया; दोनों ही पुराने राज्यों को सुव्यवस्थित मानते थे। केवल प्राचीन आचार-पद्धतियों की व्याख्या में ही दोनों में परस्पर विभेद था। श्री कन्फ्यूशियस ने सामाजिक सुधार की नैतिक पद्धति अपनाई। समाज तभी अराजक हो जाता है जब मनुष्य विभिन्न सम्बन्धों के अपने कर्तव्यों का अपने आवेगों के कारण बराबर उल्लंघन करता है। इसे हम रोक सकते हैं, यदि शासक स्वस्थ उदाहरण रखे। यदि शासक अच्छे हैं तो जनता अच्छी होगी। श्री कन्फ्यूशियस को इस पर इतना गहरा विश्वास था कि उन्होंने कहा--"यदि कोई शासक बारह महीनों के लिए मुझे अपना निर्देशक मानकर आत्म-समर्पण कर दे तो मैं बहुत

कुछ सम्पन्न कर दूँगा और तीन वर्ष में तो मैं अपनी आशाओं की सिद्धि प्राप्त कर लूँ।" श्री लाओ त्सू ने हर प्रकार के राजकीय नियंत्रण की समाप्ति का सुझाव दिया। प्रत्येक व्यक्ति को विश्व की आत्मा के साथ एक संहिति स्थापित करने दो, उसे सामाजिक सम्बन्धों के चक्कर में, जो अधिकाधिक कटु और जटिल होते जा रहे हैं, न डालो। जहाँ एक ओर श्री लाओ त्सू ने अकर्मण्यता और व्यक्तिवाद का पोषण किया वहाँ दूसरी ओर श्री कन्फ़्यूशियस ने डटकर उनका विरोध किया।

कन्फ्यूशियन धर्म

कन्फ्यूशियन सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याता तीन हैं—श्री कन्फ्यूशियस (५५१ से ४७९ ई० पू०), श्री मेन्शियस (३७२ से २८९ ई० पू०) जिन्हें द्वितीय सन्त कहा जाता है और श्री चू-सी (११३० से १२०० ई०) जो कन्फ्यूशियन सिद्धान्त के महान् टीकाकार हैं। ईसा-पूर्व तीसरी सदी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते कन्फ्यूशियन धर्म आठ सम्प्रदायों में बँट गया और प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको श्री कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का एकमात्र उत्तराधिकारी घोषित करने लगा। श्री मो त्सू (चौथी सदी ई० पू०) ने मेन्शियस तथा अन्य लेखकों को बहुत प्रभावित किया, यद्यपि वे स्वयं कन्फ्यूशियस के अनुयायी न थे।

श्री कन्फ्यूशियस

श्री कन्फ्यूशियस की प्रधान शिक्षा है मानव व्यक्तित्त्व को सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल ढालना। समाज की मंगला-स्थिति व्यक्तियों की

पारस्परिक स्वाभाविक सहानुभूति पर निर्भर है। इस सहानुभूति की अभिव्यक्ति व्यक्ति के पारिवारिक क्षेत्र में होनी चाहिए और वहाँ से क्रमशः वह उन लोगों तक पहुँचनी चाहिए जो उससे दूर हैं।[1] श्री कन्फ्यूशियस पितृ-प्रेम, पारिवारिक स्नेह, राज्यनिष्ठा और पड़ोसी के प्रति प्रेम की शिक्षा देते हैं। समाज के सभी सदस्य जब अपने पृथक्-पृथक् निश्चित कर्तव्यों का पालन करते हैं तब समाज सुव्यवस्थित रहता है। जब सभी अपना कर्तव्य करते हैं तब महान् सार्वजनीन सम्भूति—प्रजातंत्र—का विकास होता है। "जहाँ महान् सिद्धान्त का पालन होता है वहाँ सभी सार्वजनीन हित के लिए काम करते हैं। सद्गुणशाली व्यक्तियों को पदों के लिए निर्वाचित किया जायगा और समर्थ लोगों को उत्तर-दायित्व सौंपा जायगा। विश्वास और निष्ठापूर्ण व्यवहार होगा और सामंजस्य का शासन होगा। इसलिए परिणामतः मानव-जाति अपने पूर्वजों का समादर और प्रेम और सन्तति की रक्षामात्र ही नहीं करेगी, सभी वयोवृद्ध लोगों के जीवन-यापन का उचित प्रबन्ध होगा और सभी युवकों को काम दिया जायगा। बच्चों की वैसे ही रखवाली होगी जैसे उनके माँ-बाप करते हैं; विधवाओं और विधुरों, पितृहीनों और अविवाहितों, अपंगुओं और बीमारों—सबकी रखवाली और चिन्ता की जायगी। पुरुषों को अपने अधिकार मिलेंगे और महिलाओं को उनके घर। किसी भी पदार्थ या वस्तु की बरबादी न होगी और न व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए उनका संचय होगा। कोई भी अपनी शक्ति व सामर्थ्य की चोरी न करेगा और न व्यक्तिगत लाभ के लिए उसका

[1] 'The Great Learning' नामक पुस्तक में Odes का उद्धरण दिया गया है—"पत्नी से प्रारम्भ करके बन्धुओं और तब देश तक सहानुभूति का विकास करें।"

उपयोग ही करेगा। इस स्थिति में स्वार्थ समाप्त हो जाता है और चोरी, अव्यवस्था सुनाई नहीं देती। इसलिए घरों के दरवाज़े कभी बन्द नहीं होते। इसी स्थिति को—ऐसे ही राज्य को—महान् सार्वजनीन सम्भूति[1] कहते हैं।" यह एक समाजवादी विश्वव्यापी सार्वजनीन सम्भूति का चित्र है, एक राष्ट्रोपरि संगठन जिसका क्षेत्र यह समस्त विश्व है, जिसका शासन लोक-प्रिय निर्वाचन द्वारा मैत्री-भाव के आधार पर होता है। इसमें कोई वंशानुगत बात विचार में नहीं लाई जाती और प्राकृतिक सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए शोषण नहीं होता।

समाज के विभिन्न सदस्यों के क्या कर्तव्य हैं, इस सम्बन्ध में श्री कन्फ़्यूशियस कोई नई बात नहीं कहते। वे कहते हैं कि वे तो केवल एक विचार-वाहकमात्र है—"अतीत के श्रद्धालु और प्रेमी" न कि अन्वेषक।[2] उन्होंने प्राचीन काल के सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों का नीति-ग्रन्थन किया जिसमें न केवल व्यक्तिगत स्वच्छता और सामाजिक कर्तव्य सम्मिलित हैं बल्कि धार्मिक कर्मकाण्ड और मृतात्माओं के प्रति कर्तव्य तथा पवित्र परम्परायें भी शामिल हैं। मनु और मोजेज़ के नीति-शास्त्रों की भाँति 'ली' का धर्म भी अन्य बातों के साथ निष्ठा-भक्ति और नैतिक आत्म-संयम की आवश्यकता बताता है। यह वही है जिसे हिन्दू लोग धर्म कहते हैं, व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म। कन्फ़्यूशियन धर्म एक एकान्तिक नीतिशास्त्र नहीं है। श्री कन्फ़्यूशियस हमें स्वर्ग की उपासना करने और अपने पूर्वजों तथा धरती की विभूतियों—शक्तियों, पर्वतों और नदियों—के प्रति श्रद्धा रखने को

[1] श्री लियांग ची-चाओ द्वारा लिखित 'Chinese Political Thought' में श्री ली युन का उद्धरण, E. T.(१९३०), पृष्ठ ४४।
[2] Analects, IV. I.

कहते हैं। यह अतीत काल के विश्वास और अतीत की परम्परायें थीं जिन्हें कन्फ्यूशियस ने अपना लिया था। उनकी दृष्टि में ईश्वर सर्वशक्तिमान् शासक है जिसकी हमें श्रद्धा और उपासना करनी है। उसने इस संसार की सृष्टि की है और मानव-जाति के विभिन्न वर्गों का निर्धारण किया है। उसके नीचे अनेक शक्तियाँ हैं जो अपने पृथक्-पृथक् क्षेत्रों—देवी या स्वर्गीय और लौकिक—का शासन करती हैं और उन्हीं के द्वारा मनुष्यों की रक्षा और उनका परिचालन होता है। समाज के कल्याण के लिए पूर्वजों की पूजा आवश्यक है। इस प्रकार के धर्म-शास्त्र में देवताओं और शक्तियों की निरन्तर वृद्धि के लिए पर्याप्त अवसर है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कन्फ्यूशियन धर्म में देवताओं की संख्या काफ़ी बड़ी है।

शासक देवपुत्र था जो अपनी प्रजा और स्वर्ग या ईश्वर के बीच मध्यस्थ का काम करता था और प्रजा की ओर से ईश्वर की पूजा करता था। अन्य कृषि-प्रधान देशों की भाँति, जहाँ लोगों को ऋतुओं की नियमित गति पर निर्भर रहना पड़ता था, चीन में भी धरती अपनी बड़ी-बड़ी नदियों और महान् पर्वतों के साथ पूजा का पात्र बन गई। चीन के लोग, जो परिवार को एक इकाई और अविभाज्य मानते थे, यह नहीं सोचते थे कि मृत्यु के बाद अपने परिवार में व्यक्ति की अभिरुचि और ममता समाप्त हो जाती है। इसी का परिणाम है पूर्वज-पूजा की प्रथा। फिर भी स्पष्ट है कि श्री कन्फ्यूशियस स्वर्ग और देवताओं-सम्बन्धी इन निराधार विश्वासों पर ज़ोर नहीं देते। सत्य तो यह है कि भगवान् बुद्ध की भाँति वह आध्यात्मिक और धार्मिक गूढ़ तत्त्वों के विवाद को निरुत्साहित ही करते हैं। जब श्री त्से-लू ने उनसे स्वर्गीय और पार्थिव शक्तियों की पूजा के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने

उत्तर दिया—"हमने अभी तक मनुष्यों की सेवा करना तो सीखा नहीं, देवताओं को सेवा करना हम कैसे जान सकेंगे!" "मृत्यु के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?"—दूसरा प्रश्न था। श्री कन्फ़्यूशियस ने उत्तर दिया—"जीवन के सम्बन्ध में तो अभी हम जानते नहीं, मृत्यु के सम्बन्ध में कैसे जान सकेंगे?" यद्यपि श्री कन्फ़्यूशियस ने इस विषय पर विवाद करना टाल दिया पर वे मरणोत्तर जीवन अस्वीकार नहीं करते; क्योंकि पूर्वज आत्माओं की पूजा करने के उनके आदेश में उनके मरणोत्तर जीवन की स्थिति निहित है। "गुरुदेव (श्री कन्फ़्यूशियस) कौतुक, शक्ति, अव्यवस्था अथवा अलौकिकता पर विवाद नहीं करते थे।"[1] उन्होंने धर्माचारों के पालन का अनुमोदन किया था, इसलिए नहीं कि उनसे देवता प्रसन्न होंगे बल्कि इसलिए कि वे आचार अतीत काल की देन थे। वे यह जानते थे कि कोई भी बाह्य अधिकार-सत्ता मानव-कर्म पर ठीक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने में समर्थ न होगी। पर सन्तों और ऋषियों द्वारा प्रदत्त, पूर्वजों से प्राप्त, कोई भी अतीत संस्कृति हमारी श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन जायगी।

श्री कन्फ़्यूशियस के अनुसार जीवन के 'शिव' का अर्थ है ईश्वरीय विधान के साथ हमारी अनुरूपता, जो हमें शक्ति देती है। बलिदान और भविष्य-दर्शन ईश्वरेक्षा को प्रसन्न व तुष्ट करने और उसके जानने के साधन हैं। कन्फ़्यूशियस के मत के संस्कार-शास्त्रज्ञ यह सिद्ध करते हैं कि "बलिदान कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो हमें बाहर से मिलती है। वह तो ऐसी चीज़ है जो हमारे भीतर से आती है क्योंकि उसका जन्म हमारे हृदयों (भावनाओं) में होता है; जब हृदय अशान्त होता है,

Quran

[1] Analects, VII. 20.

हम कर्मकाण्ड से उसे सहारा देते हैं।"[१] एक पूर्व ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए श्री सून त्सू कहते हैं—"बलिदान मन की वह स्थिति है जब हमारे विचार प्रवल कामनाओं के साथ स्वर्ग की ओर प्रेरित होते हैं। निष्ठा, प्रेम और श्रद्धा को यह परम अभिव्यक्ति है।"[२] जब श्री कन्फ़्यूशियस हमें "कर्मकाण्ड और संगीत' समझने का आदेश देते हैं तब वह उन्हें व्यक्तित्व-संस्कार के साधनरूप में स्वीकार कर लेते हैं। 'संगीत स्वर्ग अथवा भावसूक्ष्म का प्रतिनिधित्व करता है, जब कि कर्मकाण्ड धरती अथवा ठोस मूर्त का।" जब श्री कन्फ़्यूशियस यह कहते हैं कि मनुष्य की शिक्षा संगीत से प्रारम्भ, नैतिक संयम से पुष्ट और संगीत से पूर्ण होनी चाहिए तब वे यह विश्वास करते हैं कि इन सब का उद्देश्य मानव-प्रकृति का संस्कार है। कन्फ़्यूशियन धर्म का तात्विक या आधारभूत विश्वास है--"मनुष्य धर्म का विकास कर सकते हैं, धर्म मनुष्य का विकास नहीं करता।"

श्री चुआंग त्सू ने श्री कन्फ़्यूशियस और श्री लाओ त्सू के बीच एक सम्वाद की चर्चा की है जिसमें इस विचार पर जोर दिया गया है कि श्री कन्फ़्यूशियस की नैतिकता कुछ वाह्य-विषयक थी। "कन्फ़्यूशियस ने लाओ त्सू से कहा--'मैंने गीतों की पुस्तक, इतिहास की पुस्तक, कर्मकाण्ड की पुस्तक, संगीत-शास्त्र व परिवर्तनों की पुस्तक, बसन्त और शरद का लेखा—सब मिलाकर ६ धार्मिक पुस्तकों का सम्पादन किया है और मैं समझता हूँ कि मैं यह दावा कर सकता हूँ कि उनके मन्तव्य को मैंने भलीभाँति स्वायत्त कर लिया है। इस समस्त ज्ञान में

१ Waley द्वारा लिखित Li Chi, Ch. 25 द्वारा 'The Way and Its Power' में उद्धृत, पृ० २४।
२ Ibid, पृष्ठ २४–२५।

सज्जित हो मैंने ७२ शासकों का साक्षात् किया है, भूतपूर्व शासकों के विधान की व्याख्या की है, चाऊ और शाओ सम्राटों (बारहवीं सदी ई० पू०) की सफलताओं की चर्चा की है; लेकिन एक भी शासक ऐसा न मिला जिसने मेरी शिक्षा का तनिक भी उपयोग किया हो। ऐसा लगता है कि या तो मेरे ये श्रोता नितान्त अविश्वासी—कठिनाई से दूसरों की बात माननेवाले—रहे हैं या फिर पहिले के शासकों के विधान ही अत्यन्त दुर्बोध हैं।' श्री लाओ त्सू ने कहा—'यह सौभाग्य की बात है कि आपको कोई भी ऐसा शासक नहीं मिला जो संसार का सुधार करने के लिए उत्सुक हो। ये धर्म-पुस्तकें प्राचीन राजाओं के धूमिल पद-चिह्न हैं। वे हमें उस शक्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताते जिसने उनके क़दमों को रास्ता बताया था। आपके सभी उपदेश उन वस्तुओं से सम्बन्धित हैं जिनका महत्त्व धूल में पड़े पद-चिह्नों से कुछ भी अधिक नहीं है। और पद-चिह्न तो पदत्राणों (जूते) से बनते हैं, पर वे स्वयं पदत्राण नहीं हैं।'[१] कन्फ़्यूशियस के नीतिशास्त्र की ऐसी आलोचना बिलकुल उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्होंने जेन—हृदय की भावना—के विकास पर ज़ोर दिया है। उन्हें मनोनुशासन पर, आत्मा के शासन पर विश्वास था जो कभी-कभी हमें परम्परागत नैतिकता के साथ टक्कर लेने की स्थिति में ला सकता है। श्री कन्फ़्यूशियस कहते हैं—"निरंकुशतापूर्वक शासित और दण्ड-भय से व्यवस्थित लोग विधान भंग करने से दूर भले ही रहें पर उनकी नैतिक आस्था नष्ट हो जाती है। सद्शासन से शासित और आत्म-संयम

१ E. T. 'Three Ways of Thought in Ancient China' (१९३९) नामक अपने ग्रन्थ में पृष्ठ ३१-३२, श्री वैली द्वारा।

के अन्तर्विधान से व्यवस्थित अपनी नैतिक आस्था सुरक्षित रखते हैं और साथ-ही-साथ वे भद्र बन जाते हैं।"[१] और भी "यदि कोई व्यक्ति अपने हृदय का संस्कार कर सकता है तो शासन में भाग लेने से उसे कौन शक्ति रोक सकती है! पर यदि वह अपने हृदय का संस्कार नहीं कर सकता तो फिर दूसरों का सुधार करने से उसे क्या प्रयोजन?"[२] और फिर "आन्तरिक सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति के होंठों पर आनेवाले शब्द भी सत् शब्द होते हैं, पर होंठों पर सत् शब्द रखनेवाला व्यक्ति सर्वदा सद्गुण-सम्पन्न नहीं होता। पूर्ण सद्वृत्तिशाली व्यक्ति में साहस होना निश्चित है, पर साहसी व्यक्ति का सद्वृत्तिशाली होना आवश्यक नहीं है।"[3] जिन ९ गुणों को उन्होंने एक भद्रकोटि के मनुष्य की विशेषतायें बताया है उनमें आन्तरिक सद्वृत्तियाँ भी निश्चितरूप से शामिल हैं। "ऐसा व्यक्ति इस बात की कामना और चिन्ता करता है कि वह स्पष्ट देखे, स्पष्ट सुने, दया-दर्शी, विनताचारी, विवेकभाषी और अपने व्यवहार में सत्यनिष्ठ हो; संशय उत्पन्न होने पर वह दूसरों से उसके निवारण का प्रयत्न करता है, क्रोध आने पर वह परिणामों को सोचता है और स्वार्थ के अवसर—प्रलोभन—दिये जाने पर वह अपने कर्तव्य का ही विचार करता है।"[४] फिर भी श्री कन्फ्यूशियस जानते थे कि स्वाधीनता के स्वच्छन्दता में परिणत हो जाने का डर है

---

[१] Giles : The Sayings of Confucius (१९१६), पृष्ठ ३९।

[२] Giles : The Sayings of Confucius, (१९२६), पृष्ठ ४५।

[3] Ibid, पृष्ठ ६६।

[४] Ibid, पृष्ठ ६९।

और इसीलिए उन्होंने सच्चरित्रता पर इतना अधिक ज़ोर दिया।

भगवान् बुद्ध की भाँति आध्यात्मिक समस्याओं के प्रति कन्फ़्यूशियस की अनुत्सुकता का कारण स्यात् उनकी नैतिकता-सम्बन्धी उत्सुकता है। जो कुछ भी श्रद्धा का विषय है ज्ञान के चेतना-परक सिद्धान्त को जन्म देता है। तार्किक ज्ञान तो सत्य को सिद्धि तक ले जाना चाहता है—उस सत्य की जो पदार्थ-विषयक और विश्वव्यापी है; पर रहस्यात्मक अन्तर्ज्ञान, जो तर्क-सिद्ध ज्ञान की अवहेला करके उससे ऊपर-ही-ऊपर निकल जाता है, हमें अधिक-से-अधिक विश्वास और निश्चयाभास देता है न कि सत्य तथा निश्चित ज्ञान। श्री कन्फ़्यूशियस ने चिन्तन (अन्तर्ज्ञान)-मूलक साधनों का अभ्यास किया; किन्तु वे तर्क की प्रधान पद्धतियों की ओर ही झुके। "मैंने सारा दिन निराहार और सारी रात निद्राहीन बिताई है, इसलिए कि चिन्तन कर सकूँ। पर सब व्यर्थ रहा। इससे तो ज्ञानार्जन अच्छा है।" चूँकि अलौकिक सत्ता पर विश्वासों से मनुष्यों में विभेद बढ़ रहे थे इसलिए उन्होंने उन पर ज़ोर नहीं दिया। मानव-ज्ञान की सीमाओं का उन्हें बोध था। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि श्री कन्फ़्यूशियस अनन्त रहस्य की भावना से शून्य थे। उन्हें एक परम स्वर्ग या परमेश्वर की सत्ता पर विश्वास था और यह विश्वास उन्हें अतीत युगों से प्राप्त था। 'तियेन'—स्वर्ग (ईश्वर)—संसार का स्रष्टा है, पालक है और संहारक है, विश्व-व्यवस्था का संरक्षक है, वह सर्वदर्शी और न्यायी है। उनका यह ईश्वर—'तियेन'—ऋग्वेद के वरुण और ईरानियों के अहुरमज़्दा का प्रतिरूप है। कन्फ़्यूशियस को एक ऐसी शक्ति पर विश्वास था जो हमारी पवित्रता में सहायिका और हमारे जीवन की निर्मात्री शक्ति है। उनके निम्नलिखित कथन यह सिद्ध करते हैं कि एक सदुद्देश्यपूर्ण

शासक के रूप में स्वर्ग पर उनका विश्वास था। "मेरी कामना है कि मैं बिना बोले रह सकता।"—गुरु ने कहा। श्री त्सू कुंग ने कहा—"यदि आप न बोलें तो आपके शिष्य हम लोग दूसरों को क्या बतायेंगे?" गुरु ने उत्तर दिया——"स्वर्ग की भाषा क्या है? चारों ऋतुयें अपना काम करती हैं, सभी चीज़ें विकसित होती हैं; फिर भी स्वर्ग—ईश्वर—क्या बोलता है?"[१] श्री कन्फ़्यूशियस कहते हैं——"ईश्वर का विधान अनन्त है। आप सूर्य और चन्द्र को अनन्त गति से एक-दूसरे का अनुगमन करते देखते हैं—यह ईश्वर का विधान है। इस विश्व में जीवन की गति कभी रुकती नहीं और वह सतत संचरित है—यह ईश्वर का विधान है। बिना किसी प्रयास और बाधा के वस्तुओं की सृष्टि होती रहती है, यह ईश्वर का विधान है। जब वस्तुओं की सृष्टि या उनका निर्माण होता है तो सृष्टि विभासित होती है—यह ईश्वर का विधान है।" संसार की व्यवस्था और उसकी प्रगति ईश्वर के विधान को प्रदर्शित करती है। "मुझमें जो सद्गुण हैं उन्हें ईश्वर ने उत्पन्न किया है।"[२] "जब ईश्वर ही अभी सत्य के इस उद्देश्य को नष्ट करने के लिए तैयार नहीं है तो कुआंग के लोग मेरा क्या कर सकते हैं?"[३] "जब मेरे पास कोई भी श्रद्धालु शिष्य नहीं है तब भी ऐसे शिष्यों के होने का दावा करके मैं किसको धोखा देता हूँ? क्या मैं स्वर्ग को——ईश्वर—को धोखा देता हूँ?"[४] "जो स्वर्ग के विरुद्ध——ईश्वर के विरुद्ध—पाप करता है उसके लिए कोई स्थान शेष नहीं रहता जहाँ वह प्रार्थना

[१] Analects, XVII. 19.
[२] Analects, VII 22.
[३] IX. 5.
[४] IX. II.

कर सके।"[१] जब श्री कन्फ्यूशियस के प्रिय शिष्य येन युआन की मृत्यु हुई तो वे चिल्ला उठे—"हन्त! स्वर्ग ने—ईश्वर ने! मुझे वियुक्त कर दिया! ईश्वर ने मुझे वियुक्त कर दिया!"[२] श्री कन्फ्यूशियस ने कहा था—"पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मैंने अपना मन ज्ञानार्जन में लगाया। ३० वर्ष की अवस्था में मैं दृढ़तापूर्वक खड़ा हो सका। ४० वर्ष की अवस्था में मैं संशय-मुक्त हुआ। ५० वर्ष की अवस्था में मैं ईश्वरेच्छा समझ पाया।"[३] उन्होंने और भी कहा—"एक उच्चकोटि का मनुष्य तीन बातों को भय और आदर की दृष्टि से देखता है—ईश्वर की इच्छा को, महान् व्यक्ति को और सन्तों की आज्ञाओं को।"[४] जब वे सख्त बीमार थे तो उनके शिष्यों में से एक ने मन्दिर में जाकर प्रार्थना करने को कहा; उन्होंने उत्तर दिया कि वे बड़े लम्बे अरसे से प्रार्थना करते रहे हैं। उनका सारा जीवन ही एक प्रार्थना था। ईश्वर की इच्छा पूरी करना सर्वोत्तम प्रार्थना है। वे अनन्त से समन्वित रहते थे। जब श्री कन्फ्यूशियस ने कहा—"खेद है, ऐसा कोई नहीं है जो मुझे जानता हो—समझता हो," तो एक शिष्य ने पूछा कि उनका मतलब क्या था, और उन्होंने उत्तर दिया—"मैं ईश्वर के विरुद्ध उलाहना नहीं करता। मैं मनुष्य के विरुद्ध भी उलाहना नहीं करता। मेरा अध्ययन विनत है और मेरा दर्शन अदृष्ट। लेकिन ईश्वर तो है; वह मुझे जानता है।"[५]

---

[१] III. 13.
[२] IX. 8.
[३] II. 4.
[४] XVI. 8.
[५] Giles : Religions of Ancient China (१९०५), पृष्ठ ३५।

यद्यपि श्री कन्फ़्यूशियस ने देवताओं के सम्बन्ध में परिभाषाओं और विवादों के झंझट में पड़ने से इनकार किया था फिर भी परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित कर्तव्यों का वह श्रद्धापूर्वक पालन करते थे। जब उनसे पूछा गया कि ज्ञान क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया--"मनुष्यों के प्रति अपने कर्तव्यों को सत्यनिष्ठा के साथ पूरा करने में अपने आपको लगा देना और दैवी शक्तियों का सम्मान करते हुए भी अपने आपको उनसे अलग रखना—इसे ज्ञान या विवेक कहा जा सकता है।"[१] यद्यपि उन्होंने यह बात कही थी फिर भी "वह मृतात्माओं के प्रति ऐसे बलिदान करते थे मानो वे उनके सम्मुख उपस्थित हैं। और देवताओं के प्रति भी ऐसे बलिदान करते थे मानो वे स्वयं सचमुच देवताओं के सम्मुख उपस्थित हैं।"

मानवतावाद की अपर्याप्ति

श्री कन्फ्यूशियस निस्सन्देह एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनमें वे गुण थे जिन्हें हम एक धार्मिक चरित्र से सम्बन्धित मानते हैं—एक उदार

---

[१] एक प्रारम्भिक फ़्रांसीसी विद्वान् श्री बत्राऊ ने एक दिन सड़क पर जाते हुए एक क्रास (क्रूसीफ़िक्स) को देख कर अपनी टोपी उतार ली। यह देखकर उसके मित्रों को आश्चर्य हुआ। वे बोले—"अच्छा तो हमारी आशाओं से अधिक अब आप परमात्मा के साथ अच्छे सम्बन्ध में है।" उत्तर मिला—'विनय के सम्बन्धों में हम लोग बात नहीं करते।" अदृश्य जगत् के प्रति श्री कन्फ्यूशियस का दृष्टिकोण 'सम्मानपूर्ण, पर परिचित नहीं; श्रद्धापूर्ण, पर कामनापूर्ण नहीं' रहा--The Three Religions of China लेखक Soothill (1929), पृष्ठ ३१।

भावना, सामाजिक परिस्थितियों में सुधार करने की आकांक्षा और ज्ञान के प्रति प्रेम। अतिवादों से उन्हें अरुचि थी। जब कोई कुख्यात युवक उनके पास पहुँचता और उसकी मनोदशा ठीक-ठीक होती तो वे उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लेते थे; और जब उनके शिष्य उनके इस कार्य की विवेकशीलता पर सन्देह करते तो वे कहते—"अपने विचारों में आप लोग इतने अतिवादी क्यों हों?" उन्होंने परम्परागत धार्मिक विचार स्वीकार कर लिये थे और धार्मिक कृत्यों का पालन करते थे। यदि धार्मिक विषयों पर उन्होंने मौन ग्रहण किया था तो इसलिए कि इन विषयों के सम्बन्ध में उन्हें कोई नई बात नहीं कहनी थी। उन्होंने एक नवीन सामाजिक दृष्टिकोण की माँग की थी न कि नवीन धार्मिक दृष्टिकोण की। वे एक धार्मिक विचारक नहीं थे; इसलिए उन्होंने लोकोत्तर या अलौकिक विषयों की अधिक व्याख्या नहीं की। ऐसा लगता है कि उन्होंने हमें एक ऐसी धर्म-निरपेक्षता दी है जिसमें मनुष्य पर विश्वास है—उस मनुष्य पर जिसका निर्माण समाज के लिए हुआ है। समाज से बाहर वे मनुष्य का अनुसरण नहीं करते। उनके धार्मिक विचारों और धर्माचारों का उनके नैतिक और सामाजिक विचारों के साथ संग्रंथन करके कोई विशिष्ट पद्धति नहीं बनी। उनका धर्म एक आचार-धर्म मालूम होता है। उनके उपदेशों में धर्म-निष्ठा या पुण्यश्लाघा की ज्योति नहीं दिखाई देती। मानव-अस्तित्व के अन्तर्तम की उपेक्षा सभी मानवतावादी नीतिशास्त्रों का तात्त्विक दोष है। श्री कन्फ्यूशियस की यह स्वीकृति ठीक है कि जीवन का शिवत्व जीवन के मान-महत्त्वों की सुरक्षा उनके, प्रसार और विकास में है। किन्तु इन मान-महत्त्वों की पृष्ठ-भूमि क्या है? श्री कन्फ्यूशियस इसका उत्तर नहीं देते। एक दार्शनिक दृष्टिकोण की खोज हमारी प्रकृति की एक

आवश्यकता है। ऐसी पद्धति एक स्थायी सामाजिक व्यवस्था बनाने में सवदा असफल रही है और असफल रहेगी जो मनुष्य के लिए एक धार्मिक विश्वास तथा मनुष्य के उद्भव और उसके अन्त सम्बन्धी अनन्त प्रश्नों के सुझाव की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देती।

और फिर श्री कन्फ्यूशियस चाहते हैं कि हम अपनी प्रकृति की पूर्णता प्राप्त करें। किन्तु मनुष्य के आध्यात्म का निषेध करनेवाला मानव-प्रकृति-सम्बन्धी हर दृष्टिकोण अपूर्ण है। एक ऐसी आध्यात्मिकता है, चिरन्तन मूल्यों की एक ऐसी श्लाघा है जो मानव-मस्तिष्क के लिए सहज है। मनुष्य को उस परम दर्शन से दूर ले जाने की कोशिश, उसके कर्तृत्व को इस प्रयोग-सिद्ध विश्व में सीमित करना और सर्वेश की चर्चा का बिलकुल निषेध करना-मनुष्य को मनुष्य की कोटि से नीचे गिराना है। वह हर विचार-पद्धति असन्तोषप्रद है जो मानव-प्रकृति के इस पक्ष की उपेक्षा करती है।[1]

श्री कन्फ्यूशियस कहते हैं कि उन्हें दुःखी बनानेवाली बातें ये हैं —"कि सद्गुणों का अर्जन नहीं किया जाता, कि ज्ञान सुस्पष्ट नहीं बनाया जाता, कि लोगों को कर्तव्य-बोध होता है पर वे उसका पालन नहीं करते और यह कि लोगों में बुराइयाँ हैं और वे उन्हें सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं करते।"[2] सन्त जॉन के उपदेश के इस उद्धरण से

---

[1] अपने गुरु कन्फ्यूशियस के सम्बन्ध में श्री त्सू कुंग ने कहा—"यह तो सम्भव है कि हम गुरुदेव को साहित्य या विद्याओं और संस्कृति के वाह्य तत्वों पर बोलते हुए सुनें पर यह हमारा सौभाग्य नहीं है कि मानव-प्रकृति या ईश्वरीय विधान पर बोलते हुए हम उन्हें सुनें।" Edwards द्वारा रचित Confucius' (1940), पृष्ठ ६० देखिये।

[2] Lun Yu, VII. 3.

हम लोग परिचित हैं--"भर्त्सना की बात तो यह है कि संसार में प्रकाश तो आया किन्तु लोगों ने अन्धकार ही पसन्द किया क्योंकि उनके कारनामें काले थे।" हम सुन्दर और पवित्र चीज़ों को देखते हैं, लेकिन हम चुनते हैं क्षुद्र और कुटिल को। मनुष्य की दुःखद कथा तो यह है कि उसकी प्रकृति विकृत और पतित हो गई दिखाई देती है। हिन्दू-विचार-धारा में जब मनुष्य से ज्ञान या विवेक-सिद्धि को कहा जाता है, जब बुद्ध हमसे बोधि या ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करने की बात कहते हैं, तो वह हमसे एक आध्यात्मिक आयास की माँग करते हैं, वे हमें ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की बात कहते हैं जो विद्वानों को सरल मनुष्यों की अपेक्षा कम विनम्र नहीं बनाता। यह चिन्तनमूलक ज्ञान तर्कमूलक विचार से भिन्न है। हमारे भीतर की आत्मा ही हमें आध्यात्मिकता के स्तर तक उठा सकती है। एक महान् आन्तरिक परिवर्तन हमें सहन करना होगा। श्री कन्फ्यूशियस ने जिन नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा की है उनका सम्यक् पालन तभी सम्भव है जब धर्म के माध्यम से हमारा पुनर्जन्म हो। श्री कन्फ्यूशियस स्वर्ग या ईश्वर की इच्छा के सम्मुख विनम्रता और समर्पण की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। प्राकृतिक मनुष्य के ऊपर नियंत्रण रखने के लिए हमें किसी उच्च शक्ति--स्वर्ग की शक्ति--का सहारा खोजना होगा। यही शक्ति मनुष्य में नियामिका शक्ति बनकर काम करती है। मनुष्य के भीतर वह आत्मा, जो मनुष्य की अनियंत्रित पिपासाओं को निश्चित, नियंत्रित और सीमित बनाती है, हमारे भीतर दैवी तत्त्व की स्थिति का प्रमाण है। अपने अस्तित्व के अन्तर्तम में हमें उस देवात्मा का भान होता है एक ऐसे नैतिक संकल्प के रूप में, जीवन और प्रकृति

के प्रति जिसकी भावना स्वीकारात्मक होती है।[1] आज कल ऐसे मानवतावादी हैं जिन्हें नैतिक आदर्शों की शक्ति पर, परम्परा के महत्त्व पर और अन्तर्राष्ट्रीय सद्व्यवहार पर विश्वास हैं। और यह सब कन्फ्यूशियस के मत के अंग हैं; किन्तु यह सब आन्तरिक पवित्रता की वाह्य अभिव्यक्तियाँ है। धर्म ही मनुष्य का सत्य स्वभाव है। यह स्वभाव स्वर्ग पर आधारित है और धरती पर उसका कर्तृत्व सामाजिक कर्तव्यों (ली) द्वारा प्रगट होता है। यही सामाजिक कर्तव्य पारस्परिक विश्वास और सामंजस्य स्थापित करते हैं। श्री कन्फ्यूशियस हमारे सम्मुख एक सन्त-सम्राट् का आदर्श रखते हैं, वह जिसमें एक सन्त की विवेकशीलता और शान्ति के साथ एक शासक की कार्यकारिणी विभूतियों का सम्मिलन हुआ हो--कृष्ण के योग के साथ अर्जुन के धनुष का मेल मिला हो।[2] उनके विचारोंमें एक गम्भीर दृढ़ता है, एक आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि है, किन्तु चूंकि उन्होंने उसकी विवृत्ति नहीं की इसलिए यह काम उन्होंने अपने शिष्यों व अनुयायियों पर छोड़ दिया कि यद्यपि वे उनके सामाजिक नीति-शास्त्र को एक आध्यात्मिक पृष्ठभूमि देकर उसे स्थिरता और लक्ष्य प्रदान करें। ऐसा करने में उनके शिष्यों ने श्री कन्फ्यूशियस के विचारों में निहित तत्त्वों का ही अनुसरण किया। उनकी दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति का मूल स्वर्ग में है। स्वर्ग की--ईश्वर की--इच्छा की स्वीकृति और अनुचारिता गुण है, विभूति है; उसका उल्लंघन दुर्गुण है, बुराई है। यदि हम धरती पर स्वर्ग-साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं तो इसका अर्थ है कि हमें मनुष्यों के बीच ठीक-

---

[1] श्री अरस्तू ने हमें बताया है--"यह ठीक है कि यद्यपि हम मर्त्य हैं फिर भी यथा सम्भव हमें ऐसे जीना चाहिए मानों हम अमर हैं।"

[2] भगवद्गीता का अन्तिम श्लोक देखें।

ठीक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए।[1]

श्री मो-त्सू ४७०-से-३९० ई० पू०

श्री मो-त्सू कन्फ़्यूशियस के एक अल्पवयस्क समकालीन थे। उन्होंने रूढ़िवादी कन्फ़्यूशियनवाद का यह कहकर विरोध किया कि वह ईश्वराचिन्त्यवादी और भाग्यवादी हैं। उन्होंने शंग-ती की उपासना में सुधार किया और उसके प्रयोग को विस्तृत किया। वह एक व्यक्तिरूप ईश्वर में विश्वास रखते थे जो संसार का शासन करता है; और उन्हें आत्मिक सत्ताओं के अस्तित्व और उनके कर्तृत्व पर विश्वास था। स्वर्ग की इच्छा यह है कि हम सर्वत्र सब मनुष्यों से प्रेम करें। विश्व-प्रेम एक धार्मिक कर्तव्य है।

श्री मो-त्सू उस कन्फ़्यूशियन नीति की आलोचना करते हैं जिसके अनुसार मनुष्यों को एक हीनक्रम में प्रेम करना बताया गया है, माता-पिता से प्रारम्भ करके जिन्हें सबसे अधिक प्यार करना है,

---

[1] श्री जिल्स लिखते हैं—"परिणामों के आधार पर आँकने से उनका जीवन कभी भी किसी भी मनुष्य द्वारा जिये गये सर्वाधिक सफल जीवन के तुल्य था—उनकी मृत्यु के बाद मन्द पर अबाध गति से सुदूर व्यापी और अतुलनीय महत्ता के परिणाम दिखाई दिये। अपने विश्वव्यापी प्रभाव की दृष्टि से तीन और केवल तीन ही व्यक्ति उनकी तुलना के योग्य हैं; मनुष्यों के बीच गौतम का आत्माहुतिपूर्ण जीवन, अरब के पैग़म्बर का अशान्त और प्रबल चरित्र और वह पाप-मुक्त जीवन जिसका अन्त गॉलगॉथा में हुआ (ईसा)।"—The Sayings of Confucius (१९२४), पृष्ठ ३६।

विदेशियों से समाप्ति होती है जिन्हें सबसे कम प्यार करना है। वे कहते हैं: "यदि एक शासक अपने पड़ोसी देश पर हमला करता है, वहाँ के निवासियों की हत्या करता है, उनके जानवरों, घोड़ों, उनके धन-धान्य और बर्तन-भाँड़ें सबका अपहरण कर ले जाता है तो उसके इस कृत्य को काष्ठ-पट्टों और रजत-पट्टिकाओं पर लिखा जाता है, धातु-पट्टों और प्रस्तर-पट्टों पर यह गाथा अंकित की जाती है, घण्टों और त्रिपादों पर वह गाथा लिखी जाती है और बाद में यह सब उसके पुत्र-पौत्रों को विरासत में मिलते हैं। वह गर्व करता है—'कोई भी इतना लूट का माल नहीं ला सका जितना मैं लाया।' ले कन कल्पना कीजिये कि कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी के घर पर हमला करे, घर के सभी व्यक्तियों की हत्या कर डाले, पड़ोसी के जानवरों, उसके धन-धान्य और वस्त्रों को उठा ले जाय और तब अपने इस कृत्य को काष्ठ-पट्टों, रजत-पट्टिकाओं, अपने घर के बर्तनों आदि पर अंकित करादे ताकि वे उसके पुत्र-पौत्रों को आनेवाली पीढ़ियों में बिरासत में मिलें और वह इस बात पर गर्व करे कि जितना उसने लूटा या चुराया उतना और किसी ने नहीं, तो क्या यह सब ठीक होगा?" 'लू' के शासक ने कहा—"नहीं। और आपने इस बात को जिस ढंग से रखा है, उस दृष्टि से देखने पर तो ऐसी तमाम बातें जिन्हें संसार बिलकुल ठीक मानता है, जरूरी नहीं कि कतई ठीक हों।"[1] वह संसार जो छोटे-छोटे अपराधों या दुष्कार्यों की भर्त्सना करता है और महान् पाप—युद्ध की प्रशंसा करता है; वह सत् और असत्, भले और बुरे का ठीक-ठीक विवेक नहीं रखता। लेकिन दुराग्रही संसार में हम एक-एक

[1] Waley: Three Ways of Thought in Ancient China (१९३९), पृष्ठ १७५।

क़दम ही आगे बढ़ सकते हैं और क्रम-क्रम से ही हम सहानुभूति की सीमाओं का—उसके संकोच का—अन्त कर सकते हैं। श्री कन्फ़्यूशियस को मानव-स्वभाव की गूढ़ता का अधिक बोध था।

श्री मो-त्सू को इस बात का विश्वास था कि मनुष्य का मृत्यु के बाद भी सचेतन अस्तित्व रहता है इसीलिए वह मृतकों और उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया से सम्बन्धित प्रथाओं को वैसा महत्त्व नहीं देते थे जैसा कि श्री कन्फ़्यूशियस देते थे। उनके मत का सामान्य दृष्टिकोण कुछ कठोर और तपस्यापरक है। श्री मेन्शियस ने, जो श्री मो-त्सू की आलोचना भी करते हैं, उनकी बड़ी प्रशंसा की है, "मो-त्सू सभी मनुष्यों से प्रेम करते थे और मानवता के हित में वे अपने आपको खपा देने के लिए तैयार थे। अपने सेवापरायण लम्बे जीवन में उन्होंने अपने शान्ति-व्रत में कठिनाइयों को सहा और विरोध का सामना किया।"[1]

श्री मेन्शियस

श्री मेन्शियस को मो-त्सू के सिद्धान्तों का खण्डन करना पड़ा। श्री मो-त्सू ने संसार की बुराइयों का हल विश्व-प्रेम बताया था। मेन्शियस को यांगत्सू के सिद्धान्तों का भी खण्डन करना पड़ा जिन्होंने सामाजिक मसलों की नितान्त उपेक्षा का उपदेश दिया था और सलाह दी थी कि समाज से सम्बन्धित सभी चीज़ों से मनुष्य को पूर्ण विरक्ति अपनानी चाहिए। श्री कन्फ़्यूशियस द्वारा प्रतिष्ठित नैतिक और सामाजिक मूल्यों का समर्थन करते हुए मेन्शियस ने एक रहस्य-

---

[1] Mencius, VII. 1. 26.

वादी आदर्शवाद का विकास किया। ची प्रदेश के ताओवाद से वह बहुत प्रभावित हुए थे और उससे उन्होंने श्वास-संयम या प्राणायाम की प्रक्रिया सीखी थी यद्यपि वह इन प्रक्रियाओं को आत्मिक अनुशासन से निम्नस्थ मानते थे। चीन और भारत के लोगों का बहुत प्रारम्भिक समय से यह सामान्य विश्वास है कि गहरी और नियमित श्वास-प्रक्रिया मस्तिष्क को शान्त रखती है और एकाग्र-चिन्तन में सहायता देती है। श्री कन्फ़्यूशियस की भाँति मेन्शियस एक सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करते हैं जिसे वह स्वर्ग कहते हैं। वह कारणों का कारण, प्रथम कारण है। मनुष्य की प्रकृति स्वर्ग की देन है और इसी-लिए तत्त्वतः सद्रूप है या भली है। बुरे कर्म हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध हैं। प्राकृतिक शक्तियों, पूर्वजों व कुल-देवताओं के पूजा-सम्बन्धी अन्य प्रश्नों में मेन्शियस कन्फ़्यूशियस के अनुयायी हैं। उनका मत है कि मनुष्य की आत्मा विश्व की आत्मा के साथ एक-रूप है; मनुष्य स्वयं में ही एक लघु विश्व—विन्दु में सिन्धु है। इस विश्व से वह किन्हीं कठोर विभेदों द्वारा विभाजित नहीं है। "सभी वस्तुयें हमारे भीतर पूर्ण हैं।"[1] ईश्वर का साम्राज्य मनुष्य के भीतर है। मनुष्य अपने अज्ञान और तज्जन्य स्वार्थ के कारण अपने आपको उस विश्व से पृथक् अनुभव करता है। जब वह अपने स्वार्थ को छोड़ देता है, जब वह बाधाओं को नष्ट कर देता है और निःस्वार्थ प्रेम का विकास करता है तो वह विश्व के साथ अपनी एकरूपता का अनुभव करता है।

एकता की यह अनुभूति बौद्धिक प्रक्रिया का फल नहीं है। श्री मेन्शियस ज्ञान के दो रूपों[2] में अन्तर मानते हैं, एक तो वह जो मस्तिष्क

[1] Mencius. VII. a. 4.
[2] Ibid., VII. 1. 15.

की प्रक्रिया का फल है और दूसरा वह जो आत्मा का ज्योतिर्भास है और जो मस्तिष्क की प्रक्रिया शान्त कर देने पर प्राप्त होता है। यही उच्चतर विवेक है, उपनिषदों की परा विद्या है। मेन्शियस हमें उपदेश देते हैं कि हम अपनी प्रातिभ शक्तियों को प्राप्त करें; जीवन की दौड़-धूप में इन शक्तियों को विकास का अवसर नहीं मिलता। श्वास-संयम या प्राणायाम, मानसिक एकाग्रता और आत्मिक अनुशासन के साधन से हम आध्यात्मिक स्तर तक उठ पाते हैं। एक प्रशान्त विवेक या चेतना आत्मा के विकास का सर्वोत्तम सहाय है। मेन्शियस के मत में सत्-असत्-विवेक-भावना ताओ कहलाती है। आत्मिक दृष्टि से महान् पुरुष वह है जो अपने शिशु-हृदय को सुरक्षित रख सका है।[1] मेन्शियस का कहना है कि आपदायें और दुःख हमारी अपनी सृष्टि हैं, और इस कथन के समर्थन में वे 'गीत'—'ओड' का यह उद्धरण देते हैं—"निरन्तर दैवेच्छा के साथ एकरस रहने का प्रयत्न करो। और उसी से अपने लिए अत्यन्त आनन्द प्राप्त करो।"[2] समस्त या समष्टि के साथ एकता की अनुभूति में व्यक्ति अपने आप को विश्व का एक अभिन्न अंग अनुभव करने लगता है। जिसने एकता की अनुभूति कर ली है वह समूचे संसार से प्रेम करता है। "मानव-हृदयतापूर्ण मनुष्य का धरती पर कोई शत्रु नहीं होता।"[3] श्री कन्फ्यूशियस तो शासकों के दैवी-अधिकार का नैतिक समर्थन करते हैं, पर मेन्शियस शासक-वर्ग के विरुद्ध विद्रोह के नैतिक अधिकार का समर्थन करते हैं और यदि शासकों के आज्ञा-पालन का अर्थ पाप-पूर्ण परिस्थितियों की स्वीकृति हो तो वे क्रान्तियों

---

[1] Mencius. IV. 2. 12.
[2] Ibid., II. 1., IV. 5. 6.
[3] Ibid., VII. b. 3

को भी न्याय्य ठहराते हैं।

श्री चू-सी

चेंग-बन्धुओं[1] से अत्यधिक प्रभावित होकर श्री चू-सी ने कन्फ्यूशियस के आदेशों की फिर से व्याख्या की और यह सिद्ध किया कि वे उपदेश लोगों की बौद्धिक पिपासा और आध्यात्मिक आवश्यकताओं को तुष्ट कर सकते हैं। महान् परम्पराओं पर किये गये आग्रह को चू-सी ने विवेक की स्वीकृति में बदल दिया। सत्य हमें सद्जीवन से उतना नहीं प्राप्त हो सकता जितना सद्चिन्तन से। उन्होंने एक ऐसे दार्शनिक मत का विकास करने का प्रयत्न किया है जिसमें बुद्धिवाद और रहस्यवाद का संयोग है। वे बौद्ध विचार-धारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे, यद्यपि वे उसकी आलोचना भी करते हैं। वे कहते हैं—"हमें सुदूर और खोखली चीज़ों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है; यदि हम ताओ (धर्म) की वास्तविकता जानना चाहते हैं तो हमें वह तत्त्व अपनी प्रकृति के भीतर खोजना चाहिए। हम में से प्रत्येक के भीतर सद्सिद्धान्त है; इसे हम ताओ कहते हैं, यही वह मार्ग है जिस पर हमें चलना चाहिए।"[2] मनुष्य और संसार की प्रकृति की व्याख्या वह शुद्ध तत्त्व या परम तत्त्व से प्रारम्भ करते हैं--उससे जो सब पदार्थों का स्रोत और आत्मा है, और वे उस अनस्तित्व से भी प्रारम्भ करते हैं जो हमारे पदार्थ-विश्व की शक्ति-सत्ता है।

---

[1] चेंग हाओ (१०३२-१०८५ ई०) और चेंग प्रथम (१०३३—११०७ ई०)।

[2] E. T. by Bruce.

प्राचीन कन्फ़्यूशियन धर्म दो मतों में विभाजित था। इनमें से एकमत की मान्यता थी कि मनुष्य की प्रकृति जो स्वर्ग के आदेश से निर्धारित है तत्त्वतः सद्-रूप है। दूसरे मत की मान्यता थी कि मनुष्य की प्रकृति असत् या बुरी है। चू-सी यह बात मानते हैं कि मनुष्य के भीतर दो सिद्धान्त हैं; एक तो आध्यात्मिक जो उसकी तात्त्विक प्रकृति है और जो स्वभावतः शिव है; और दूसरा पदार्थ या भौतिक सिद्धान्त जो आत्मा को व्यक्तित्व का आच्छादन देने के लिए आवश्यक है। यह पदार्थ गुण-भेद से विविध है; यह अधिक घना या सूक्ष्म है, अधिक सम्पन्न या दीन है; और यही अन्तर मनुष्यों के बीच विभेदों के कारण हैं। पदार्थ की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रेरणाओं और इच्छाओं में होती है। आत्मिक तत्त्व की इन भौतिक अभिव्यक्तियों का नियंत्रण ही हमारी नैतिक या धार्मिक समस्या है। नव-कन्फ़्यूशियन नीति-शास्त्र की कठोर तापसवृत्ति का कारण यही दृष्टिकोण है।

अस्तित्व और अनस्तित्व, आत्मा और पदार्थ, पतन और उत्थान की चिरन्तन शृंखला में आबद्ध विश्व-काल पदार्थ के विविध सजीव स्वरूपों में परिवर्तन तथा बुराई के प्रतिफल सम्बन्धी श्री चू-सी के सिद्धान्तों में बौद्ध-धर्म का गम्भीर प्रभाव प्रगट होता है। कन्फ़्यूशियस-वाद से बहुत शीघ्र दो विचार-धारायें विकसित हुईं—एक तो चिन्तन-मूलक, जिसका सम्बन्ध आत्मिक या नैतिक शिक्षण से था और दूसरी वैज्ञानिक, जिसका उद्देश्य संसार का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना था। पहली विचार-धारा पर ताओ-धर्म और बौद्ध-धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा। आगे चलकर यह दोनों विचार-धारायें स्वतंत्र मतों में विकसित हुईं।

श्री चू-सी के मत में न कोई ईश्वर है, न सर्वप्रभु और न भाग्य या स्वर्ग। यह विश्व दो सह-चिरन्तन सिद्धान्तों से निर्मित है, वे हैं ली और की—चेतना और पदार्थ, जो एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी अविभाज्य हैं। चेतना की निर्देशक शक्ति से पदार्थ का विकास होता है। विधि या चेतना स्वयं तो अचल है फिर भी वह विश्व में गति को जन्म देती है। मनुष्य का निर्माण इन्हीं दोनों—चेतना और पदार्थ—से हुआ है। पदार्थ द्विविध है--पाई, जो ठोस है और हून, जो वाष्परूप है। चेतना पदार्थ में है पर उसके साथ मिश्रित नहीं है। यह कहना कि आत्मा मृत्यु के पश्चात् बच रहती है, एक भूल है। पुनर्जन्म नहीं है। हर बार जब मनुष्य का जन्म होता है तो उसकी उत्पत्ति चेतना और पदार्थ के तत्त्वों से होती है। पूर्वज अपनी सन्तति में जीवित हैं, वह सन्तति जो उनके प्रति अपने जीवन-दान के लिए कृतज्ञता प्रकाशित करती है।

अपने उत्तरकालीन रूपों में यदि कन्फ्यूशियन-मत एक धर्म का काम दे सका तो इसलिए कि उसकी सामाजिक महत्ता को एक आध्यात्मिक विश्वास का बल भी प्राप्त हुआ। मनुष्य की दार्शनिक भूख और आध्यात्मिक कांक्षाओं की तृप्ति ताओवाद और बौद्ध--धर्म की धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार कर लेने से हुई। कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त के लिए ये मान्यतायें एक बिलकुल विदेशी मान्यतायें नहीं थीं क्योंकि उनके सिद्धान्त में एक अदृश्यशक्ति, स्वर्ग (ईश्वर) और अन्य आत्माओं को स्वीकार किया गया था जो कि मनुष्य के भाग्य-विधाता और नियामक हैं। फिर भी चूंकि कन्फ्यूशियस ने व्यावहारिक पक्ष पर सर्वाधिक ज़ोर दिया था न कि सैद्धान्तिक पक्ष पर, इसलिए उनका सिद्धान्त एक धर्मरूप में प्रेरक नहीं हो सका।

५

चीन में धर्म : ताओ धर्म

श्री लाओ त्सू और उनके अनुयायी

श्री लाओ त्सू की जन्म-तिथि परम्परानुसार ६०४ ई० पू० मानी जाती है। वे कन्फ़्यूशियस के वयोवृद्ध समकालीन थे। प्रसिद्ध पुस्तक ताओ ते चिंग के वह लेखक माने जाते हैं। इस पुस्तक में पूर्वकालीन लेखकों की रहस्यवादी और शान्तिवादी प्रवृत्तियों को एक में मिलाया गया है और लोकप्रिय कहावतों की एक नवीन व्याख्या अपनी विचार और व्यवहार पद्धति का अनुमोदन करने के लिए की गई है। रूपकों और कहानियों व वार्ताओं के सहारे इस पुस्तक में रहस्यवादी सिद्धान्त को बड़े प्रभावकारी और मोहक ढंग से व्यक्त किया गया है; और यह सिद्धान्त प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए मालूम होता है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों का मत है कि यह पुस्तक तीसरी शती ई० पू० में लिखी गई थी।[1] ईसा की तीसरी शताब्दी

[1] नैतिक धारणाओं के क्षेत्र में ताओ ते चिंग तथा बौद्ध-ग्रन्थों के बीच हमें महत्त्वपूर्ण साम्य दिखाई देता है। 'जो दूसरों को पराभूत करता है वह सबल है; जो अपने आप पर विजय पाता है वह परम पराक्रमी है।" (XXXIII)। धम्मपद में कहा गया है—"यदि एक व्यक्ति युद्ध-क्षेत्र में हजार पुरुषों को हजार बार जीतता है और

(वांग पी प्रथम) से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी तक इस ग्रन्थ की अनेक टीकायें हुई हैं। सभी टीकाओं में अपने मतों के अनुसार मूल ग्रंथ की व्याख्या की गई है। ताओवाद का विकास करने वाले प्रधान विचारक हैं श्री ली त्सू (चौथी शती ई० पू०) और श्री चुआंग त्सू जो श्री मेन्शियस के समकालीन थे (चौथी और तीसरी शती ई० पू०) और जो सर्वाधिक मौलिक चीनी दार्शनिकों में से एक हैं। उन्हें सांसारिक कार्य-कलापों से घृणा थी और एकान्त जीवन में तपश्चर्या द्वारा आत्म-संस्कार पर उन्हें विश्वास था। उनकी रचनायें यद्यपि कल्पनाशक्ति और सत्य-निष्ठा-सम्पन्न हैं फिर भी वे उन लोगों में जन-प्रिय न हो सकीं जो जीवन में आगे बढ़ना चाहते थे। फिर भी वे सक्रिय जीवन से अवकाश लेनेवाले वृद्ध जनों के लिए अपार शान्ति-सुख का स्रोत बनी।

ताओवाद का अध्यात्म

ताओवाद के केन्द्रीय विचार उपनिषदों के विचारों से मिलते-

दूसरा व्यक्ति अपने आपको जीतता है तो यह दूसरा सबसे महान् विजेता है" (१०३)। और फिर,—"कामना उत्पन्न करनेवाले पदार्थों को देखने से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं, असन्तोष से बढ़कर दूसरी कोई बुराई नहीं, लोभ से बढ़कर दूसरी कोई आपदा नहीं"—ताओ ते चिंग, IVL. २। "कामुकता जैसी कोई अग्नि नहीं, घृणा-जैसी कोई चिनगारी नहीं, मूर्खता जैसा कोई जाल नहीं और लोभजैसा कोई अधोगामी प्रवाह नहीं।" धम्मपद, २५१। और फिर,—"इसलिए यदि हम एक गाड़ी का निर्माण करनेवाले उसके सभी अंग अलग-अलग आपको गिना दें तो उससे तो गाड़ी क़तई नहीं मिलती।" इसकी तुलना मिलिन्दपण, II. 1. I. से करें।

जुलते हैं। संसार की दैवायत्तता और एक परम तत्त्व की वास्तविकता दोनों में सामान्य हैं और न्यूनाधिकरूप में समान पद्धति से दोनों में उन पर विचार किया गया है।

श्री लाम्रो त्सू ने 'दि बुक ग्राफ़ चेन्जेज़' को अपना आधार बनाया है। इस ग्रन्थ की धारणा यह है कि धरती पर की सभी घटनायें निरन्तर चलस्थिति में या परिवर्तनशील हैं जैसे सरिता का जल जो अविरत गति से बहता रहता है। जब पतझड़ आता है तब "कोई एक भी पत्ती अपने सौन्दर्य के कारण या एक भी पुष्प अपनी सुरभि के कारण छोड़ नहीं दिया जाता है।" इन विविध परिवर्तनों के पीछे एक परम सत्य है जिसका तत्त्व अगाध और अज्ञेय है और जो फिर भी अपने आपको प्रकृति के विधानों में व्यक्त करता है। प्रकृति के इस इन्द्रियगम्य पदार्थ-जगत् के पीछे अवस्थित इस तात्त्विक सिद्धान्त को कोई नाम दे देना दुरूह है, यद्यपि काम चलाने के लिए हम उसे ताम्रो कहते हैं। कन्फ़्यूशियस ताम्रो को जीवन-मार्ग कहते हैं। लाम्रो त्सू की दृष्टि में ताम्रो जीवन-मार्ग से अधिक है।[1] ताम्रो वह वास्तविकता है जो अनादि

---

[1] ताम्रो के सम्बन्ध में सर राबर्ट डगलस कहते हैं—'लेकिन ताम्रो मार्ग से बढ़कर है। वह पथ भी है और पथिक भी। वह चिरन्तन मार्ग है जिस पर सभी अस्तित्व और पदार्थ चलते हैं, लेकिन किसी ने भी उसका निर्माण नहीं किया क्योंकि वह तो स्वयं ही अस्तित्व है; वह सब कुछ है और कुछ नहीं है और जो कुछ है उस सबका कारण और परिणाम है। सभी पदार्थों की उत्पत्ति ताम्रो से है, ताम्रो के अनुकूल सबकी स्थिति है और सबका लय ताम्रो में है।" इस वर्णन की तुलना तैत्तिरीय उपनिषद् में किये गये ब्रह्म के वर्णन से कीजिए—"ब्रह्म से ही सब अस्तित्वों की उत्पत्ति है, ब्रह्म से ही उनकी स्थिति है और ब्रह्म में ही उनका लय है।" III.

और अनन्त है जब कि अन्य सब चीज़ें जन्म लेती हैं और मरती हैं। ताओ मार्ग भी है और लक्ष्य भी है। यह वह प्रकाश है जो दृष्टा भी है और दृश्य भी; ठीक वैसे ही जैसे उपनिषदों का ब्रह्म साधना-सिद्धान्त भी है और साध्य भी, प्रेरक आदर्श भी है और उसकी पूर्ति भी। सत्यान्वेषण की प्रेरक-शक्ति वही सत्य है जिसकी हम खोज करते हैं।

ताओ वर्णनातीत है। वह अनाम[1] है। "जो ज्ञाता हैं वे बोलते नहीं, जो बोलते हैं वे ज्ञाता नहीं हैं।"[2] सच्चे ज्ञानी अनिर्वचनीय उपदेश का पालन करते हैं जिसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। जो परम तत्त्व एक है, अनादि और अनन्त है वह इन्द्रियागम्य है। "वह जो सबको उत्पन्न करता है, स्वय अजन्मा है; जिसके द्वारा सब वस्तुओं का विकास होता है, विकास स्वयं उसका स्पर्श नहीं कर सका। स्वयंभू या आत्म-जन्मा और आत्म-प्रकाशी वह अपने आप में ही पदार्थ, स्वरूप, ज्ञान, शक्ति, विक्षेप और प्रलय के तत्त्व समाहित किये है और फिर भी इनमें से किसी भी एक नाम से उसे पुकारना भूल होगी।"[3] परम तत्त्व की परिभाषा करने में संकोच और निरुत्साह सर्वाधिक स्वाभाविक और ठीक दृष्टिकोण जान पड़ता है। उपनिषद् के द्रष्टा ने बारबार परम आत्मा की परिभाषा करने की माँग किये जाने पर मौन ही ग्रहण किया; केवल यही कहा—"शान्तोऽयमात्मा"—वह आत्मा शान्त है। प्रबुद्ध बुद्ध ने परम तत्त्व की प्रकृति बताने से इनकार कर दिया था।

जो भी वर्णन हम कर सकते हैं वे केवल नकारात्मक हो सकते हैं।

---

१ Tao-Te Ching, XXX VII.
२ Ibid., LVI.
३ Li-Tzu. I.E.T. लेखक श्री Giles.

हम उसे कुछ नहीं कह सकते क्योंकि हम जो कुछ भी अपनी अवधारणा में लाते हैं वह केवल आपेक्षिक वास्तविकता है, उस परम तत्त्व का आभास है। क्योंकि उस परम तत्त्व से ही सब कुछ की उत्पत्ति है और उसी में वे सब फिर लय होते हैं। जो वस्तुयें हमें वास्तविक मालूम होती हैं वे अपने आपमें वास्तविक नहीं हैं। जो तात्त्विक एकता इस नानात्व में व्याप्त है, जो अपरिवर्तनीय सिद्धान्त इस नित्य परिवर्तित बहुलता का आधार है, इस गतिशील विश्व के पीछे जो स्थिर सत्य है वह निस्सीम है, निरुपाधिक है।

"एक नाम—बस केवल एक—उसे दे सकते
वह 'रहस्य' है"
या वह जग के 'सकल रहस्यों से भी बढ़कर
तिमिरावृत्त' है
स्रोत कि जिससे गुप्त-तत्त्व बिखरे ये सारे।"[1]

समस्त कल्पनागम्य विशेषणों या गुणों का उसमें अभाव है, क्योंकि वह निर्गुण है। वह न भला है न बुरा, न सत् न असत्, क्योंकि वह केवल है। उसकी सर्वगुणपरता दर्शाने के लिए विरोधी उपाधियों से उसकी चर्चा की जाती है, उसे निर्गुण गुणी कहा जाता है। वह भीतर है बाहर है; "पत्थर-सा बोझिल है और पंख-सा हलका।"

"अस्ति नास्ति से, नास्ति अस्ति से वर्धमान हैं
सुकर और दुष्कर पूरक हैं एक अपर के;
दीर्घ और लघु एक-दूसरे के प्रमाण हैं,
निर्धारक हैं अधर ऊर्ध्व के, ऊर्ध्व अधर के।"[2]

---

[1] Tao Te Ching. I. E. T.—Waley द्वारा गृहीत।
[2] Ibid., II.

"निराकार पर पूर्ण रहा कुछ
गगन-धरा का भी अस्तित्व न था जब;
शब्द-हीन वह, वस्तुभाव से शून्य
रहा आश्रित वह किसके और कहां कब?

वह परिवर्तनहीन ओघ था
सर्वव्यापी था, अमोघ था।"[१]

श्री चुआंग-त्सू ताओ के सम्बन्ध में लिखते हैं--"ताओ में वास्तविकता है और साक्ष्य है, कर्म और रूप नहीं है। उसका अन्त: संचरण हो सकता है पर उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसकी प्राप्ति हो सकती है पर उसे देखा नहीं जा सकता। उसका अस्तित्व आत्म-स्वरूप आत्म-स्थित है। उसका अस्तित्व स्वर्ग और धरती से भी पहले था और निश्चय ही चिरन्तन है। वह देवताओं की उद्भावना और संसार की उत्पत्ति कराता है। वह खम्मण्डल के शीर्ष से भी ऊपर है पर फिर भी ऊँचा नहीं है। वह सृष्टि के अधोविन्दु से भी नीचे है पर फिर भी नीचा नहीं है। वह स्वर्ग और धरती से भी पूर्वकालीन है, पर फिर भी पुराना नहीं है। सर्वप्राचीन से भी वह प्राचीन है, पर फिर भी बूढ़ा नहीं है।"

ताओ के नकारात्मक और परस्पर-विरोधी वर्णनों से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह अनस्तित्वमात्र है। वह जीवन और गति के सभी स्वरूपों को उत्पन्न करता है।

"वह अगाध है,
जो कुछ है उस सबका सृष्टा परम पिता है।"[२]

[१] Tao Te Ching., XXV.
[२] Ibid., IV.

"कर्म-शून्य वह,
पर उससे ही सर्व-कर्म-सम्पादन होता।"[१]

"वह—ताम्रो—आवृत अनाम है
पर सबका आधार, सभी को
पूर्ण-काम-पथ पर लाता है।"[२]

"वह--ताम्रो-पथ—अतुल और इन्द्रियाग्राह्य है,
पर उसमें ही
सर्व-रूप प्रच्छन्न और अन्तर्हित रहते।"

"स्वर्ग के नीचे धरती पर के सभी पदार्थों का वह जन्म देनेवाला है।"[३] "अनाम से ही स्वर्ग और धरती उत्पन्न हुए।"[४] सभी द्वन्द्व, प्रकाश और अन्धकार, उष्ण और शीत उसी से उत्पन्न होते हैं।

यह पदार्थ-जगत् उस परम ताम्रो से किस प्रकार सम्बन्धित है, इसकी स्पष्ट विवेचना नहीं की गई। कुछ उद्धरणों में यह संकेत किया गया है कि यह संसार उस परम तत्त्व से स्खलन है। निम्नलिखित को देखिये:—

"पतन परम पथ—ताम्रो—का हुआ था जब
जागी तभी मानव-दया औ' धर्मशीलता।
जब चतुराई जगी, ज्ञान मिला मानव को
तभी महा-मायागार फैला नभ चीरता।"[५]

कुछ ताम्रोमतवादी परम्परागत द्वैत मत को स्वीकार करते हैं और

१ Tao Te Ching., XXXVII.
२ Ibid., XLI.
३ Ibid., XXV.
४ Ibid., I
५ Ibid., XVIII

इस समस्त विश्व का निर्माण यांग और यिन[1] के सिद्धान्तों की अन्तर्क्रिया का फल मानते हैं। कन्फ़्यूशियस के सिद्धान्त में बाह्य विश्व की उत्पत्ति स्वर्ग और पृथ्वी के सम्मिलन और कर्म से होती है। ताओ वह विश्व-सिद्धान्त है जो यांग और यिन के द्वन्द्व और उनकी अन्तर्प्रक्रिया से पहले ही था। यह विरोधी द्वन्द्व पदार्थ-जगत् में ही सक्रिय होते हैं और इन दोनों की सामान्य उत्पत्ति अविभक्त एकता में होती है। यांग सक्रिय सिद्धान्त है जो सीमा-निर्धारण करता है और यिन निष्क्रिय सिद्धान्त है जो सीमित होता है। पर यह द्वैतवाद सामान्यरूप से ताओ मतानुयायियों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया मालूम होता। सभी वस्तुयें ताओ पर आधारित हैं पर ताओ किसी पर आधारित नहीं है।

अगणित जीवों का विधाता रचता है उन्हें,
त्याग उनका न करता है कभी भूलकर।
पालता उन्हें है, पोसता है बन धात्री पूत,
किन्तु निज स्वत्व कहता न कभी भूल कर।।[2]
उनका नियामक है, नियमन-शील है,
नमन-शील होता न परन्तु कभी भूलकर।
बश में न आता जीव के, न अवलम्ब लेता,
अवलम्ब सबका बना है सब भूलकर।।

[1] यांग और यिन का शाब्दिक अर्थ है प्रकाश और अन्धकार। यह नारी व पुरुष शक्तियाँ हैं—प्रकृति और पुरुष। यांग स्वर्ग की जीवन-श्वास है और यिन धरती की। यांग और यिन विस्तार और संकोच की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। संकोच या शान्ति की स्थिति प्रलय या विनाश की स्थिति है; विकास या अभिव्यक्ति की स्थिति सृष्टि या रचना है।

[2] Cp Bhagavadgita; IX 5.

अन्तिम वास्तविकता या परम तत्त्व की धारणा एक मनुष्य के रूप में नहीं की गई। वह कोई व्यक्ति-रूप ईश्वर नहीं है जिसमें ज्ञान, सक्रिय प्रेम और दयालुता की उपाधियाँ हों।

श्री लाओत्सू और चुआँगत्सू की ताओ सम्बन्धी जो धारणा हमने ऊपर देखी है वह उसी प्रकार की है जैसी उपनिषदों में ब्रह्म की धारणा है। एक काल-पूर्व, चिरकालीन और कालोपरि आत्मस्थ सत्ता है जो चिरन्तन है, अनन्त है, परमपूर्ण है और सर्वव्यापी है। उसको नाम दे सकना या उसकी परिभाषा कर सकना असम्भव है क्योंकि मनुष्य की शब्दावली केवल लौकिक पदार्थों पर ही लागू हो सकती है। उसके प्रति तो हम मौन-भाव ग्रहण करते हैं या निषेधात्मक शब्दावली अपनाते हैं, क्योंकि उसमें सभी लौकिक उपाधियों का निषेध है; अथवा फिर हम उसे एक रहस्य घोषित करते हैं और या फिर तर्क और भाषा की असमर्थता सिद्ध करने के लिए उसे परस्पर-विरोधी उपाधियों से वर्णित करते हैं। पर साथ-ही-साथ वह अस्तित्वमात्र की पूर्णता भी है, क्योंकि विचारों के सभी उद्देश्य और चिन्तन के सभी विषय उसी से उत्पन्न होते हैं।

नीति-शास्त्र

व्यक्ति की आत्मा अपने अन्तर्तम में ताओ है। ताओ जहाँ एक ओर विश्व की वास्तविकता का प्रच्छन्न तत्त्व है वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का गूढ़ स्रोत भी है। ब्रह्म भी है और उसी प्रकार आत्मा भी। "वह सर्वदा हमारे भीतर है। जितना चाहो उससे रस ग्रहण करो, वह स्रोत कभी सूखेगा नहीं।"[1] कोई भी मनुष्य ताओ का नाश नहीं कर सकता क्योंकि वह हम सब के भीतर आत्मा के अविनाशी प्रकाश

[1] Tao Te Ching, VI.

के रूप में देदीप्यमान है। हम में से प्रत्येक को ताओ में फिर से समाहित हो जाने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि उसी से हमारी उत्पत्ति हुई है। अज्ञान के कारण हम ताओ के दर्शन नहीं कर पाते और सुख, शक्ति, सम्मान और सम्पत्ति प्राप्त करने का आयास करते हैं। जो अवास्तविक है उस सबकी हम कामना करते हैं। अपने आपको अपने मनोवेगों और अपनी इच्छाओं से मुक्त करके और अकृत्रिम जीवन अपना करके हम ताओ को जान सकते हैं। कामनाओं का त्याग ताओ है। कामना-मुक्ति हमें सच्ची शक्ति देती है।' "केवल वही व्यक्ति उस गूढ़ तत्त्व के दर्शन कर सकता है जो अपने आपको हमेशा के लिए कामना-मुक्त कर ले। जिसने कभी अपने को इच्छाओं से मुक्त नहीं किया वह केवल परिणामों को ही देख सकता है।" जब तक मानव-हस्तक्षेप से हम त्रस्त नहीं होते तब तक सब ठीक है। सुकरात के बाद कुछ यूनानियों ने प्रकृति (फ़्यूसिस) और परम्परा (नोमॉस) के बीच कम-से-कम इतना क्रान्तिकारी विभेद किया था जैसा ताओ-मतवादी चीनियों ने किया। बुराई का कारण उन्होंने व्यक्ति में आत्मसंयम की कमी में उतना नहीं देखा जितना संस्थाओं या परम्पराओं के दोष में। मनुष्य जब घटनाओं के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा डालता है तभी दुःखी होता है। अपनी कामनाओं और ज्ञान से हम प्रकृति की अकृत्रिमता या स्वतः-प्रवाह में बाधा डालते हैं।[1] ताओवाद चाहता है

[1] जो जैसा है यदि मैं उसे वैसा ही छोड़ दूं तो लोग स्वयं अपना सुधार कर लेंगे। यदि मुझे शान्ति से प्रेम हो, तो लोग अपने आप धर्मनिष्ठ हो जायेंगे। यदि मैं नफ़ाखोरी छोड़ दूं तो लोग अपने आप समृद्ध और सम्पन्न हो जायेंगे। यदि मैं अपनी इच्छाओं का दमन कर लूं तो लोग अपने आप सरलजीवी बन जायेंगे।"—Tao Te Ching, LVII.

कि हम अपने समस्त ज्ञान और सारी इच्छाओं को छोड़कर प्रकृति की गोद में वापस चले जायँ। इन्द्रिय-कामनाओं के पीछे जीवन बिताने के बजाय हमें उस केंद्र-बिन्दु को खोजना चाहिए जो इस निरन्तर गतिशील प्रवाह में स्थिर, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है।

विपुल विवेक-विद्या-बोझ को उतार फेंको,
ज्ञानको भगाओ दूर दुःख दूर भागेंगे।
शतधा अधिक लाभ होगा जन-जीवन का,
शतधा अधिक जन मगंल में पागेंगे।।
दूर करो मानव-दयाको, धर्म-शीलता को,
तब कर्त्तव्य-शीलता के भाव जागेंगे।
भूत-अनुकम्पा-रत करुणा-पुलक होंगे,
जन जब विद्या-बोझ ज्ञान-कथा त्यागेंगे।

सरलता का उन्हें आदर्श दो, देखें;
अनुत्कृत-स्तम्भ का आधार दो कर में,
अहं की शून्यता निस्वार्थता दो और स्वल्पेच्छा
सहज दो कामना-से मुक्ति भर मन में।[१]

हमें अपनी प्रकृति के अनुकूल रहना चाहिए, जैसे सागर उसाँस भरता है, जैसे फूल खिलता है।

जहाँ पदार्थ-दृष्टि से ताम्रो पदार्थ-विश्व में आन्तर्निहित मूल-एकता है वहाँ मानव-व्यक्तित्व में वह शुद्ध चेतना है। अपने भीतर जो शक्ति है उसे जानने के लिए हमें अपने सामान्य अस्तित्व के स्तरों के पार देखना होगा और उस शुद्ध चेतना को प्राप्त करना होगा जो श्री चुआंग त्सू के अनुसार बिना देखे देखती है, बिना सुने सुनती है और

---

१ Tao Te Ching XIX.

बिना सोचे समझती है। ताओ तक पहुँचने के लिए भारतीय योग से मिलती-जुलती एक प्रक्रिया सुझाई गई है। ताओ का प्रतिबिम्ब एक प्रशान्त सरोवर में ही पड़ सकता है। यह निस्तब्ध शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें अपने अंगों को शिथिल कर देना चाहिए, ऐन्द्रिय पदार्थों को भुला देना चाहिए, वाह्य स्वरूपों और पदार्थ-ज्ञान से परे निकल जाना चाहिए और उसमें रम जाना चाहिए जो सबमें रमा हुआ है।[1] चुआंग त्सू योग की वह प्रक्रिया अपनाते हैं जिसके द्वारा आत्मा का वाह्य क्रिया-कलापों, इन्द्रिय-पिपासाओं और भावों से प्रत्यागमन होता है और चेतना के क्रमिक स्तरों को पार करते हुए अन्त म वह शुद्ध चेतना—"मन के भीतरवाले मन"—तक पहुँच जाती है। योग के आसन और प्राणायाम का उपदेश दिया गया है।[2] "द्वार खोल दो, अहम् को अलग हटाओ, शान्ति से प्रतीक्षा करो और आत्मा का प्रकाश आकर तुम्हारे भीतर अपना घर बना लेगा।" श्री चुआंग त्सू कहते हैं—"व्यक्ति को सरिता-तट या एकान्त स्थानों में चले जाना चाहिए और वहाँ कुछ नहीं करना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे वे लोग, जो वास्तव में प्रकृति से प्रेम करते हैं और कर्म-मुक्त अवसर का आनन्द लेना चाहते है, कुछ नहीं करते। एक नियमित ढंग से साँस लेना, फेफड़ों में भरी हुई वायु को बाहर निकालना और फिर उसे स्वच्छ वायु से भरना, मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है।" हमें उस शुद्ध तत्त्व को प्राप्त करना चाहिए, जो ज्ञेय से पृथक ज्ञाता है। "जानना तो सभी मनुष्य चाहते हैं, लेकिन वे उसे जानने की कोशिश नहीं करते जिसके द्वारा

[1] Chuang Tzu, VI. 10; देखिये भगवद्गीता, ६, १०।
[2] Chuang Tzu, XV. 1,

जाना जाता है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि ताओवादी यदि शुद्ध भारतीय योग नहीं तो उससे बहुत मिलती-जुलती प्रक्रियाओं का अभ्यास करते थे और बाद में तो निश्चय ही उनकी इस-प्रक्रिया पर भारतीय पद्धति का प्रभाव पडा। "दार्शनिक ची अपने स्टूल पर आसन लगाये बैठे थे, उनका सिर पीछे झुका हुआ था और वे बहुत धीरे-धीरे अपनी साँस वाहर निकाल रहे थे। वे अद्भुत ढंग से निष्क्रिय और ध्यानस्थ मालूम हो रहे थे, मानो उनका एक अंशमात्र ही वहाँ उपस्थित हो। येनचेंग नामक उनका शिष्य उनके पास खड़ा था। उसने पूछा---'यह आपको क्या हो रहा था? अपने शरीर को आप कुछ समय के लिए एक लकड़ी के लट्ठे-जैसा और अपने मस्तिष्क को मृत अंगार-जैसा बनाने में समर्थ दिखाई देते हैं। अभी-अभी मैंने जिसे इस स्टूल के सहारे पीछे झुकते देखा था, लगता है उसका उस व्यक्ति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है जो उसके पहिले इस स्टूल पर बैठा था।' ची ने उत्तर दिया---'तुम बिलकुल ठीक कहते हो। अभी-अभी जब तुमने मुझे देखा था तब मेरे अहं ने अपनी अहंता खो दी थी,।"[१] 'एक दूसरे स्थल पर यह कहा गया है कि जब कन्फ्यूशियस लाओ त्सू से मिलने गये तो उन्होंने उन्हें "इतना निष्क्रिय (देखा) कि वे कठिनाई से एक मनुष्य मालूम होते थे"। कन्फ़्यूशियस ने कुछ देर तक प्रतीक्षा की, लेकिन थोड़ी देर में यह अनुभव करते हुए कि अपने आगमन की सूचना देने का अवसर आ गया है, उन्होंने लाओ त्सू को सम्बोधित करते हुए कहा—"क्या मेरी आँखों ने मुझे धोखा दिया था या सचमुच बात यही थी? अभी-अभी आप मुझे एक निर्जीव प्रस्तर--

१ Chuang Tzu, II. 1., Waley's E. T.

खंडमात्र मालूम होते थे—ऐसे जैसे लकड़ी का लट्ठा हो। ऐसा लगता था जैसे आपको किसी वाह्य पदार्थ का बोध ही नहीं रहा और आप कहीं अपने आपमें निमग्न थे।" लाओ त्सू ने कहा—"ठीक है; मैं सृष्टि के प्रारम्भ की सैर कर रहा था।"[१] स्पष्ट है कि ताओवाद के निर्माण-काल में भारतीय प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण हो चला था।[२]

यह विश्वास तो बहुत प्रसिद्ध था कि योगाभ्यास द्वारा हम असामान्य शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं। श्री ली त्सू कहते हैं—"आत्यन्तिक शक्ति-सम्पन्न मनुष्य बिना जले हुए आग पर चल सकता है, बिना गिरे धरती

---

१ Chuang Tzu, XXI. 4.

२ श्री वैली कहते हैं—"अब सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि तीसरी शती ई० पू० का साहित्य ऐसे भौगोलिक और पौराणिक विवरणों से भरा हुआ है जो भारत से प्राप्त हुए हैं। मुझे इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि ली त्सू द्वारा वर्णित पवित्र पर्वतवासियों (शेंग-सीन) को भारतीय ऋषि मानने में सन्देह किया जाय; और जब चुआंग त्सू के ग्रन्थोंमें हम ऐसे ताओ मतवादियों का बर्णन पढ़ते हैं जो हिन्दू योग-आसनों से बहुत मिलती-जुलती प्रक्रियाओं का अभ्यास करते थे तो यह कम-से-कम एक सम्भावना ज़रूर मालूम होती है कि इन ऋषियों द्वारा प्रयुक्त योग-प्रक्रियाओं का कुछ ज्ञान चीन भी पहुँच गया था। यह कहा गया है कि व्यापारी लोग, जो निश्चय ही बाहरी दुनियाँ से सम्बन्धित ज्ञान के प्रधान आगम-स्रोत थे; दर्शन-शास्त्र से अभिरुचि रखते रहे हों—ऐसी सम्भावना बहुत कम है। यह एक ऐसी धारणा है जो पूर्व और पश्चिम की एक भ्रामक तुलना से उत्पन्न हुई है। उदाहरण के लिए बौद्ध कथाओं में ऐसे वणिक् हैं जो आध्यात्मिक प्रश्नों पर विवाद करने की अपनी क्षमता के लिए प्रसिद्ध हैं।"

के शीर्ष विन्दु पर चल सकता है।"[1] यह अजेयता योग का परिणाम है[2]। श्री ली त्सू के ग्रन्थों में ऐसे व्यक्तियों की चर्चा है जो बिना जले हुए आग में चलते हैं, आकाश में यात्रा करते हैं और जो मरते नहीं। ताम्रोवाद जादू के कारनामों में घुल-मिल गया और ताम्रो-मत के पुरोहितों की जादू-टोने के कारण बहुत माँग बढ़ी। वह इन कलाओं में सिद्धहस्त भी थे। आज भी ताम्रो-मत के पुरोहित अद्भुत काम करनेवाले माने जाते हैं, जिन्हें प्रेत-बाधावाले मकानों को मुक्त करने के लिए व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों पर आनेवाली प्रेतात्माओं को भगाने के लिए और रोग फैलानेवाली दुरात्माओं से गाँवों को मुक्त करने के लिए बुलाया जाता है।

श्री लू येन (जन्मकाल सन् ७५५ ई०) ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका विषय है 'जीवन की स्वर्ण-सुधा' (चिन तान चिग्राग्रों)। इस पुस्तक में उन प्रक्रियाओं का निर्देश किया गया है जिनके द्वारा हम मृत्यु पर विजय पा सकते हैं। कहा जाता है कि इस पुस्तक में श्री ताम्रो ते चिंग के उपदेशों का विकास किया गया है और बौद्ध धर्म पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा है। बौद्ध ग्रन्थों के उद्धरणों की इसमें बहुलता है। पदार्थों के वात्याचक्र में स्थिर-तत्त्व पर अपना ध्यान केन्द्रित रखनेवालों को इस पुस्तक में अनन्त जीवन का विश्वास दिलाया गया है।

कहा गया है कि योग की प्रक्रिया से आत्मा ज्ञान, प्रेम और शक्तिके

---

१ Waley: Three Ways of Thought in Ancient China (1939), पृष्ठ ७५।

२ "अभ्यासी को जलती हुई आग में भी फेंक दिया जाय तो भी अपनी इस मुद्रा (आग्नेयी) से वह जीवित रहता है।"—घेरण्ड संहिता, ७३।

समन्वित तत्त्व की स्थिति को प्राप्त होती है। तब हम सर्वग्राही अहंता से मुक्ति पाते हैं--उस अहंता से जो हमें अपने में निमग्न और अपने वश में रखना चाहती है। इस अनुभव में एक परम पूर्णता[1] की भावना रहती है; सामान्य भोग और कष्ट से बहुत ऊपर और परे रहनेवाला वह हर्ष--वह आनन्द--अनुभूत होता है जो सुख और दुःख से भिन्न है। यह अनुभूति शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं की जा सकती। तर्क-सिद्ध या युक्तियुक्त वर्णन ताओ की इस गहन अनुभूति को व्यक्त करने में असमर्थ है। शिक्षक उपदेश देता है केवल सिद्धान्त में अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए, न कि व्यक्ति की आत्म-चेष्टा को कुचलने के लिए। प्रत्येक व्यक्ति को सत्य की खोज स्वयं अपने आप करनी है। वह सत्य जब उसे प्राप्त हो जाता है तब वह अमर-जीवन हो जाता है।

"ताओ चिरन्तन नित्य है।
है प्राप्त जिसने कर लिया ताओ
भले ही देह उसकी नष्ट हो
पर नाश उसका है नहीं।"

निषेधरूप में आन्तरिक ताओ या अन्तर्धर्म का अर्थ है समस्त पदार्थ या पार्थिव बन्धनों से मुक्ति। तब यद्यपि हमें अनन्त-जीवन की प्राप्ति हो जाती है, फिर भी हम अपना व्यक्तित्व एक परिवर्तित स्वरूप में बनाये रखते हैं। अपने अन्तर्धर्म--आन्तरिक ताओ की प्राप्ति कर लेने पर हम पार्थिव परिवर्तनों, जीवन और मृत्यु के प्रभावों से मुक्त हो जाते हैं। जो ताओ-धर्म की प्राप्ति कर लेता है वह फिर अपनी अहंता में सीमित नहीं रहता वह अनुभव करता है कि समस्त सृष्टि के साथ वह

[1] Tao Te Ching, XVI.

एक है। सभी वस्तुएँ तब अपनी ही-सी मालूम होती हैं; सागर और पर्वत, वायु और प्रकाश सब अपने अंगी मालूम होते हैं।

जिसे धर्मानुभूति हो चुकी है उसका कर्म अकर्म है; कामनाहीन, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से मुक्त, उसके कर्मों की अवस्थिति उसमें नहीं बल्कि उनकी अपनी परिणति में ही है।[1] वह अनायास चलता है और काम करता है :—

"वह क्रियाहीन बना सक्रिय, अकर्म में ही
कर्म-रत वह, गन्ध लेता गन्धहीन में।
लघु को महान् करने में क्षम 'ताओ' वह,
अल्प को असंख्य करे पाप पुण्य पीन में।।
प्रतिफल मंगल से अपकृति का देता वह,
भिड़ता कठोर से सरल तन छीन में।
स्वयं बना है लघु फिर भी निबाहता है
उनको, बने हैं जो महान् तन दीन में।।"[2]

"जिसने उसे प्राप्त किया, उसको
फिर मित्र या शत्रु बनाया न जा सके।
उसे लाभ या लोभ असम्भव है,
क्षति-घात उसे पहुँचाया न जा सके।।
उसका उत्कर्ष करे भला कौन?
विनीत बलात् बनाया न जा सके।

---

[1] भगवद्गीता से तुलना कीजिये :—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुस्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत।।"

[2] Tao Te Ching, भगवद्गीता, २,६५, के स्थितप्रज्ञ आदर्श का अनुरूप है।

वह है सर्वोपरि अन्य कोई
उसके समकक्ष गिनाया न जा सके।।"[१]

यह अकर्म सांसारिक दृष्टि में ही अकर्म है, पर वास्तव में वह सर्वोत्तम कर्तृत्व है। हम अनायास, पर आत्म-प्रेरित रहते हैं। अपनी समस्त कामनाओं से मुक्त हो जाने पर अपनी समस्त वाह्य रूपता से निरावृत्त होकर हम अपने और अपने चतुर्दिक् वातारण के बीच एक समन्वय की स्थिति में पहुँच जाते हैं; और एक ऐसा आत्म-प्रेरित अनायास प्रवाह हमारे जीवन का हो जाता है जैसा ऋतुओं का प्रवाह है। ऐसा व्यक्ति एक दर्शकमात्र है। वह घटनाओं को अपनी गति से चलने देता है और जीवन की परिस्थितियों से अप्रभावित रहता है।

एक शान्तिवादी नैतिकता का उपदेश दिया गया है। धर्मानुकूलता को विभूति-सम्पन्नता माना गया है। विभूति या सद्गुण व्यक्ति के ताओ या धर्म का परिणाम है। विभूति सत् और असत्, भली और बुरी दोनों हो सकती है; ताओ विभूति की अपेक्षा कर्म अधिक है। हमारे कर्मों के परिणाम यहीं इसी जीवन में प्रकट होते हैं, भविष्य जीवन में नहीं। किसी वस्तु की अन्तर्निहित शक्ति--उसकी भलाई या बुराई की सामर्थ्य को—ते कहते हैं। धीरे-धीरे ते का अर्थ विभूति या सदाचार हो गया। संसार का प्रत्येक जीव, मानव हो या पशु, एक विशेष प्रकार से व्यवहार करता है जो उसके लिए स्वाभाविक होता है, और जब तक हम उसके अनुकूल कार्य करते हैं तब तक हमारे कार्य ताओ-पथ--धर्म-पथ या विभूति-मार्ग-पर होते हैं। प्रत्येक की अपनी कार्य-पद्धति होती है. पुरुष हो या स्त्री, राजकुमार हो या किसान। प्रत्येक को अपने

[१] Tao Te Ching, LVI

स्वभाव का विकास करना चाहिए, भगवद्गीता के शब्दों में अपने स्वधर्म की उन्नति करनी चाहिए। यदि हम सब पर एक ही-सा मान-दण्ड लागू कर दें तो विश्रृंखलता और अराजकता ही परिणाम होगा। "पुराने समय में जब एक समुद्री चिड़िया लू प्रान्त की राजधानी के बाहर आ बैठी तो लू के शासक उसका स्वागत करने गये, मन्दिर में उन्होंने उसे शराब दी, उसके मनोरंजन के लिए संगीत का आयोजन किया और उसके भोजन के लिए एक बैल की बलि दी गई। लेकिन वह चिड़िया आश्चर्यचकित थी और इतनी थकी थी कि न वह खा सकी, न पी सकी। तीन दिन में वह मर गई। यह तो चिड़िया का उस तरह स्वागत करना था जिस प्रकार मनुष्य स्वयं अपना स्वागत करता है न कि जिस प्रकार चिड़िया चिड़िया का स्वागत करती है। यदि उन्होंने उसके साथ वैसा व्यवहार किया होता जैसा चिड़िया चिड़िया के साथ करती है तो उन्होंने उसे घने जंगल में बसेरा बना दिया होता, मैदानों में घूमने, नदियों या झीलों में तैरने, मछलियाँ खाने और दूसरी चिड़ियों के साथ उड़ने तथा आराम से बैठने की सुविधा दी होती।......जो जल मछली के लिए जीवन है, वही मनुष्य के लिए मृत्यु है।"[1] श्री चुआंग त्सू सभी प्रकार के शासन और प्रकृति में किये जानेवाले हस्तक्षेप को बुरा मानते थे। हमें अपने विविध जीवन की रक्षा करनी चाहिए। यदि सभी जीव अपने ताओ--अपने धर्म—के अनुकूल रहें तो संसार में संघर्ष ही न हो। संसार में ऐसा कुछ नहीं है जो भला न हो, कोई भी ऐसा दृष्टिकोण नहीं है जो ठीक न हो।[2] हमें प्रकृति के नियम अवश्य मानना चाहिए। विनम्रता और अप्रतिरोध ज्ञान और सुख के मार्ग हैं। यह सिद्धान्त

---

१ Chuang Tzu, XVIII.
२ Ibid., Ch. II

भगवान् बुद्ध की इन शिक्षाओं से भिन्न नहीं है—"बुराइयों से बचना, भलाई करना और अपने अन्तर्तम हृदय को शुद्ध करना।" अहंता-शून्य समर्पण ही विभूति है; समर्पण ही विजय है।"

"जो सर्वाधिक कोमल है, मृदु है,
है समर्पणशील महा।
वही जीतता है उसको सर्वाधिक
जो अविनीत कठोर रहा।।
वह मुक्त-पदार्थ है, व्याप्त इसी से
वहाँ न जहाँ अवकाश रहा।
समझा उस कर्म का मूल्य यही
जो अकर्म रहा, अनायास रहा।।

शब्द-हीन-उपदेश, कर्म-हीन कर्मण्यता।
इनका मूल्य अशेष, बिरले ही समझें सुधी।।"[1]

"सन्त नहीं करता कुछ भी
पर सिद्धि सभी उसकी बनीं चेरी...।"[2]

श्री लाओ त्सू मानव-जीवन में धर्म की सक्रिय अभिव्यक्ति का वर्णन करते हैं "स्वामित्वहीन उत्पादन, अहंता-शून्य कर्म, अधिकार-शून्य उत्थान,"। कहा जाता है कि उन्होंने कहा था—"एक महान् देश का शासन ऐसे करो जैसे एक छोटी मछली पकाई जाती है।" उसके बारे में बहुत शोर-गुल मत करो। शासन करने में अति मत करो। "अपने लिए कुछ निर्माण मत करो, जो जैसा है उसे स्वस्थ रहने दो, जल की भाँति चलो, दर्पण की भाँति शान्त रहो, प्रति-

[1] Tao Te Ching, XLIII.
[2] Ibid., XLVII तथा XLVIII और LXXXI भी देखिये।

ध्वनि की भाँति उत्तर दो, अनस्तित्व की भाँति शीघ्रता से बिलीन हो जाओ और पवित्रता की भाँति शान्त रहो···संसार के लिए एक पथ बन जाओ।"[1] मुक्तात्मा मानव इसी प्रकार काम करता है।

"इसलिए तो
सन्त सर्वदा
सर्वाधिक परिपूर्ण-पन्थ से
जन-जन की सहाय करता है।"[2]

श्री चुआंग त्सू एक उद्धरण में श्री लाओ त्सू का यह कथन लिखते हैं—"जो जानता है कि वह बलशाली है और फिर भी उसे दुर्बल बने रहने में सन्तोष है वही मानव-जाति का अजेय है। वह जिसे अपनी निर्दोषिता का पूरा ज्ञान है पर फिर भी अपमान सहन करता है, वही जन-नायक होगा। जब शेष अन्य सभी प्रथम स्थान पाने के लिए प्रयत्न कर रहे हों तब जो अन्तिम स्थान पाकर ही सन्तोष करता है उसे ही संसार की अवमानना स्वीकार करनेवाला कहा जाता है।"[3]

ताओ ते चिंग में युद्धों की भर्त्सना की गई है। लाओ त्सू कहते हैं—"सभी कर्मों में सर्वाधिक ईर्ष्यापूर्ण और निन्द्य है युद्ध। जो लोग राजाओं को मंत्रणा देते हैं उन्हें युद्ध की शरण लेने से बचना चाहिए, क्योंकि सभी युद्ध प्रतिशोध की प्रेरणा देते हैं। जहाँ से होकर सेना जाती है वहाँ वर्षों दैन्य, अकाल और लूट-खसोट का दौरा रहता है। जो

---

[1] Chuang Tzu, XXXIII.
[2] Tao Te Ching, XXVII.
[3] Liang Chi-choo कृत 'Chinese Political Thought', E. T. (1930), पृष्ठ ८२।

अपनी विजय में उल्लास मनाता है वह अपने आपको एक हत्यारा सिद्ध करता है।"[१]

सामान्य मूल्यांकन

ताओवाद ने चीन को एक सर्वातिशायी रहस्यवाद दिया और इस प्रकार वाह्य-बन्धनों से मुक्ति पाने की चीनी जनता की गूढ़ कामना की पूर्ति का प्रयास किया। लेकिन उसमें अध्यात्म विद्या का विकास नहीं हुआ जिससे मनुष्य के बुद्धि-तत्त्व को तोष देने का प्रयत्न होता। परम तत्त्व और इस विश्व के बीच जो सम्बन्ध है उसकी यथातथ्य प्रकृति तथा दोनों के मध्यवर्ती शक्तियों की विवेचना का कोई व्यवस्थित विकास नहीं हुआ। धार्मिक पक्ष में ताओवाद कोई सन्तोषप्रद व्यवस्था देने में असमर्थ रहा। बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धान्तों और अनुष्ठानों को अपनाकर तथा श्री लाओ त्सू को बुद्ध के समकक्ष प्रतिष्ठितकर ताओवाद ने जनता की धार्मिक पिपासा को शान्त करने की कोशिश की। ताओवादी मठ-व्यवस्था और उसके अनुशासन-नियम बौद्ध-आदर्श पर बने हुए हैं।[२] बौद्ध-सूत्रों के आदर्श पर धीरे-धीरे एक ताओ-शास्त्र की

---

[१] Tao Te Ching, XXX, XXXI, और LXIX.

[२] "ताओवादियों ने मन्दिरों, पुरोहितों पुरोहितानियों और कर्मकाण्ड की सारी व्यवस्था बौध धर्म से ग्रहण की। उन्होंने बौद्ध सूत्रों की अनुकृति में भक्ति-सूत्र बनाये और मृतकों के प्रति प्रार्थनायें रचीं। उन्होंने त्रिमूर्ति की धारणा भी अपना ली और श्री लाओ त्सू, पँन कू और विश्व के शासक की त्रिमूर्ति प्रतिष्ठित की और इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने मृत्यु के बाद भयानक यातनाओं और आतंकों से युक्त बौद्ध नरक-कल्पना को भी अपना लिया।"—Giles कृत Religions of Ancient China (1905), पृष्ठ ६३।

रचना हुई। बौद्ध धर्म से स्वर्गों और नरकों की कल्पना ग्रहण की गई, उन्हें चीनी नाम दिये गये और जाति के ऐतिहासिक वीरों को, जो देवता माने जाने लगे थे, उनका अधिपति बनाया गया। बौद्ध परम्परा का अनुकरण करते हुए पुरोहितों या मठाधीशों और पुरोहितानियों के सम्प्रदाय प्रतिष्ठित किये गये। तंग-काल में श्री लाओ त्सू को एक विशिष्ट सम्मान दिया गया और धीरे-धीरे उन्हें भगवान् बुद्ध के समकक्ष दैवी पद पर पहुँचा दिया गया। 'शताब्दियों के दौरान में ताओवाद ने अपने आपको दृढ़ता से प्रतिष्ठित कर लिया, बराबर बौद्ध धर्म से नये-नये तत्त्व ग्रहण करता रहा जब तक उसका विकास एक ऐसे राष्ट्रीय धर्म के रूप में न हो गया जो अपने प्रतिपक्षी मत के साथ समान शक्ति और सामर्थ्य से उसके समानान्तर चल सके। और इसी रूप में आज वह चीन के इतिहास में जीवित है।"[१]

जब तंत्रयान-बौद्ध-धर्म ने ऐसी रहस्यवादी क्रियायें प्रचलित कीं जिनकी महत्ता व उपयोगिता सन्देहपूर्ण थी तब ताओवाद भी उसी मार्ग पर आगे बढ़ा। श्री लाओ त्सू और श्री चुआंग त्सू की पुस्तकों का उपयोग ऐन्द्रजालिक या जादू-टोनेवाले सम्प्रदायों में आधिकारिक शास्त्र के रूप में होने लगा। ताओवाद के इस ऐन्द्रजालिक रूप ने ही उसे जनप्रिय बनाया। कहा जाता है कि इस मत में दार्शनिक के उस पत्थर का रहस्य छिपा है जो अमरता प्रदान करता है। ताओवाद का यह रूप सभी प्रकार के वशीकरण, मोहन, मायाभिचार, जादू-टोना और प्रेत-बाधा आदि की क्रियाओं के अनुष्ठान से भरा है। अन्धविश्वास से इस प्रकार आवृत्त सम्प्रदाय को बुद्धिवादी चीन स्वीकार न कर सका।

[१] Wilhelm : Chinese Civilization (1929), पृष्ठ २००।

पर ताओवाद की प्रधान दुर्बलता उसके व्यावहारिक पक्ष में थी। इसका व्यावहारिक अर्थ धीरे-धीरे संसार के क्रिया-कलापों के प्रति एक आलस्यपूर्ण उपेक्षा हो गया। लोगों का सुधार करने, उन्हें शिक्षा देने का कोई प्रयत्न इसने नहीं किया। श्री मेन्शियस ताओवाद को सामाजिक क्षेत्र में अराजकता उत्पन्न करनेवाला मानते थे और उसे हेय दृष्टि से देखते थे क्योंकि ताओवाद में प्रकृति में किसी प्रकार के भी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं किया गया और शासन व सरकार को उसमें अनावश्यक बताया गया है। ताओवाद में यह सिद्ध करने की प्रवृत्ति है कि मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्थिति में स्वार्थपरता से मुक्त है और यह कि बुद्धि और इच्छा उसकी 'प्रकृति' के अंग नहीं। मनुष्य यदि स्वार्थी और स्वामित्व की भावना से पूर्ण है तो इसके कारण कुछ और हैं। पहला कारण तो है प्रकृति में पदार्थों का दीपन व उत्तेजन। "रंगों की अधिकता आँखों को अन्धा बना देती है; शोर की अधिकता कानों को बरबाद कर देती है; व्यञ्जन की अधिकता स्वाद को मूर्छित कर देती है;" और अपनी मानसिक शान्ति सुरक्षित रखने का यही एक उपाय है कि प्रलोभनकारी पदार्थों से मनुष्य व्यामूढ़ न हो। गड़बड़ी का दूसरा कारण है सामाजिक और राजनीतिक हस्तक्षेप--"जितने ही अधिक नियंत्रण व निषेध बढ़ेंगे उतना ही अधिक लोग गत-विभव होते जायेंगे। जितने ही अधिक शास्त्रार्थ बढ़ेंगे उतना ही अधिक राज्य में क्षोभ और अव्यवस्था फैलेगी। जितने ही अधिक विधान और आदेश प्रचलित होंगे उतने ही अधिक चोर और डाकू बढ़ेंगे।" श्री चुआंग त्सू हमें प्रकृति की गोद में वापस जाने को सलाह देते हैं। "जब सन्तपन छोड़ दिया जायगा और विद्वान् वहिष्कृत हो जायँगे तब चोरी लूट बन्द हो जायगी; जब कुलटायें निकाल बाहर की जायँगी और हीरे जवाहरात

नष्ट कर दिये जायँगे तब चोरी और अनाचार नहीं होगा।"[१]
कन्फ्यूशियसवादी तो मनुष्य में तर्क और विवेक पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं, पर ताओवादी उससे घृणा करते हैं। ताओवादी हमें धरती के नज़दीक रहने का उपदेश देते हैं और प्रकृति को माया या जादू का मर्म समझने--उसका रस लेने—की सलाह देते हैं, और वर्तमान पीढ़ी के बहुत से 'सभ्य' लोग, जो सेल्युलॉयड और कंकरीट के बीच रहते हैं वे ताओवाद की इस आद्ययुगीनता की ओर बहुत आकर्षित होते हैं। श्री कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त हैं भूतानुकम्पा, पवित्रता या सदाचार, शालीनता और शील, ज्ञान और निष्ठा; ताओवाद में इसके विरुद्ध हृदय, प्रकृति, सहज-प्रेरणा, अकर्मण्यता और मूर्छा को माना गया है जो बौद्ध धर्म के चिन्तन और आयास के आदर्शों से बिलकुल भिन्न हैं। भारत के बौद्ध शासक सम्राट् अशोक (तीसरी शताब्दी ई० पू०) ने पत्थरों और स्तूपों पर वे आदेश खुदवाये जिनमें मनुष्य को निरन्तर आध्यात्मिक आयास के लिए प्रेरित किया गया है, न कि ताओवाद की तरह आध्यात्मिक प्रमाद या शिथिलता के लिए। उन्होंने कहा था—"आपका समस्त आनन्द उद्यम में हो। छोटे-बड़े सभी उद्यम करें।" बौद्ध आदर्श अतन्द्र उद्यम का आदर्श है। एक बार जब भगवान् बुद्ध एक सम्पन्न ब्राह्मण के पास भिक्षा के लिए गये तो ब्राह्मण ने कहा—"मैं खेत जोतकर, धान्य उत्पन्नकर भोजन करता हूँ। इसके विरुद्ध आप बिना जोते—बोये ही भोजन करना चाहते हैं।" इस झिड़की का उत्तर भगवान् बुद्ध ने यह कहकर दिया कि वे आत्मा के संस्कार का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण काम करने में व्यस्त हैं। "श्रद्धा बीज है,

---

[१] श्री Liang Chi-chao कृत Chinese Political Thought, E. T. (1930) देखिये पृष्ठ ७८।

तपस्या जल-वृष्टि है, बुद्धि जुआ और हल है, विनम्रता हल का दण्ड है, मस्तिष्क ग्रन्थि है और विवेकशीलता हल का फल और अंकुश है। श्रम मेरा वृषभ है जो बिना मुड़े हुए मुझे उस स्थान को ले जा रहा है जहाँ पहुँच जाने पर मनुष्य को कोई क्लेश नहीं रहता—इस प्रकार यह हल जोता जाता है, अमरता इसका फल है।''

ताओवाद ने परम्परा की महत्ता को अस्वीकार कर दिया। श्री लाओ त्सू पितृ-भक्ति के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे, क्योंकि ताओवाद में सभी पूर्वज समान हैं। ताओवाद की भूल यह है कि वह व्यक्ति के सामाजिक पक्ष को स्वाभाविक नहीं मानता। और इसके अतिरिक्त उसने एक प्रकार के भाग्यवाद या दैवायत्तवाद को प्रोत्साहन दिया। सांसारिक मामलों में ताओवादी प्रकृति के सार्वभौम विधानों को स्वीकार करते हैं। प्रकृति के निर्माण या विनाश करने के अधिकार पर शंका या आपत्ति नहीं की जा सकती। यदि हम प्रकृति की गति में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करें तो हमें अपनी विवशता का भान होगा। आत्मा की शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रकृति के नियमों को सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके अनुकूल रहें और केवल विनत-दैवाधीनता या अनिच्छित-स्वीकृति मात्र का भाव न रखें। जब श्री चुआंग त्सू की पत्नी मर गई तब तार्किक हूयी त्सू उनके घर विषाद में समवेदना प्रगट करने आये। पर आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि उनकी जाँघों पर एक उलटा हुआ सुरापात्र रखा हुआ है, वे ढोल की तरह उसे बजा रहे हैं और गीत गा रहे हैं। श्री हूयी त्सू ने कहा—''आखिर कुछ भी हो; आपकी पत्नी आपके साथ रहीं, आपके बच्चों को पाला-पोसा और आपके साथ ही वह बुड्ढी हो गईं। आप उनके मरने पर शोक न प्रगट करें यही काफ़ी बुरी बात है; लेकिन अपने मित्रों से इस प्रकार ढोल

पीटते और गीत गाते हुए मिलना—यह तो सचमुच बहुत आगे बढ़ जाना है।" "आप मुझे ग़लत समझ रहे हैं।"—श्री चुआंग त्सू ने कहा, "जब मेरी पत्नी मरीं तब मैं बहुत दुःखी-निराश हो गया, जैसा कि कोई दूसरा व्यक्ति हो जाता। लेकिन शीघ्र ही जो कुछ हो गया था उस पर मैंने चिन्तन किया और अपने आपको समझाया कि आखिर मृत्यु के रूप में हमारे ऊपर कोई नया दुर्भाग्य तो नहीं टूटता।······अगर कोई थक जाता है और जाकर आराम से लेट रहता है तो हम तारस्वर से चिल्लाते-रोते उसका पीछा तो नहीं करते। मेरी पत्नी, जिसे मैंने खो दिया है, उस महान् अन्तर आवास में थोड़ी देर के लिए शयन करने को लेट गई। अब रो चिल्लाकर उसकी शन्ति को भंग करना तो यही सिद्ध करेगा कि मुझे प्रकृति के सार्वभौम परम विधान का कुछ भी बोध नहीं है।"[1]

श्री लाओ त्सू की दृष्टि में सामाजिक बुराइयाँ केवल सामाजिक दुराचार ही नहीं हैं, वे आत्मिक पाप भी हैं। उनसे मुक्ति पाने का मार्ग है तार्किकता के स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक बनना, लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि ताओवाद में मानव-विधानों को अधो-मानव-विधानों--भौतिक और प्राणि-शास्त्रीय या शरीरिक-विधानों—के अनुरूप बनाने की कोशिश की गई है।

ताओवाद का विकास विभिन्न रूपों में हुआ। श्री मेन्शियस ने कई एक विकास-मार्गों की चर्चा की है। श्री यांग चू और श्री मो-चाई पूर्ण व्यक्तिवादी बन गये और उन्होंने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि

---

[1] Chuang Tzu, XVIII. Waley का E.T. 'The Way and Its Power', पृष्ठ ५३, ५४ भी देखिए।

प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए है। "भले ही एक अकेला बाल उखाड़ देने से वह संसार का भला करपाये, पर उसे वह नहीं उखाड़ना चाहिए।" कुछ लोगों ने तपश्चर्या को स्वीकार कर लिया और वे पारिवारिक और नागरिक कर्तव्यों से अलग हो गये। श्री सूसिंग ने अराजकतावाद का विश्लेषण किया, समर्थन किया और वे सरकार की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते। विधानवादी भी, जिन्हें जीवन में वैधानिक हस्तक्षेप पर विश्वास है, ताओवाद का सहारा लेते हैं और अपने मत--कि संसार जड़ अगतिशील है--की पुष्टि करते हैं। श्री लाओ त्सू सामाजिक और राजनीतिक जीवन को एक मिथ्या विकास मानते हैं और वे मानव-जाति को इस परिवर्तनशीलता के संसार से आध्यात्मिक वास्तविकता के संसार में ले जाने की कोशिश करते हैं। श्री लाओ त्सू के सिद्धान्त की यह परलोक-भावना श्री कन्फ्यूशियस की उस परम्परा के विरुद्ध है जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का परिष्कार करती है और उसे युग की बदलती हुई अपेक्षाओं के अनुकूल बनाती है। निर्जीवता या जड़ता साधु-पवित्रता नहीं है। यदि हम उन मानसिक परिस्थितियों और पार्थिव स्वरूपों की चिन्ता नहीं करते जिनमें आध्यात्मिक उद्देश्य को अपनी अभिव्यक्ति मिलती है तो हम अपनी विवशता में और गहरे गिर जायँगे और यह घोषित करेंगे कि जीवन के यथार्थ तत्त्वों और शीघ्रता से परिवर्तित होनेवाले वातावरण की चोटों को सहने-सुलझाने में हम असमर्थ हैं। ताओवादी आध्यात्म उपनिषदों की विचार-धारा के निकट है और ताओवाद का अनुशासन यौगिक प्रक्रिया से मिलता जुलता है। यदि कन्फ्यूशियस की आचार-नीति हमें मिलकर अविरोध सुव्यवस्थित जीवन बिताना सिखाती है तो ताओवादी सर्वातिशायी रहस्यवाद हमें समाज से बाहर निकल आना और ताओ की अनुभूति

सिखाता है। हमें एक ऐसी विचार-पद्धति और एक ऐसे विश्वास की आवश्यकता है जिसमें इन दोनों धर्मों के स्वस्थ तत्त्वों का समन्वय हो।

———

६

गौतम बुद्ध और उनके उपदेश

गौतम बुद्ध [1]

गौतम बुद्ध (५६३—४८३ ई० पूर्व) इतिहास के उन सर्वाधिक जागरूक, ओजस्वी और प्रसन्न व्यक्तित्वों में से हैं जिनके सम्बन्ध में हमें इतिहास कुछ बताता है। उनके जीवन का रूक्ष कठोर तापस-सौन्दर्य, उनके चरित्र की उदारता और मृदुता, उनके उपदेशों की तात्विक सत्यता और अविश्वास तथा अन्धविश्वास, असंयम और तपोपीड़न के बीच का जो मध्यम-मार्ग उन्होंने सिखाया वह सब आधुनिक युग के मन मस्तिष्क को बहुत प्रभावित करता है।

उनका जन्म सं० ५६३ ई० पूर्व गौतम परिवार में हुआ था। उनका व्यक्तिगत नाम सिद्धार्थ था और वह शाक्य राजवंश के उत्तराधिकारी थे। कहा जाता है कि भावी बुद्ध रानी महामाया के गर्भ में एक स्वप्न में प्रविष्ट हुए, उस स्वप्न में संरक्षक देवदूत रानी की सेवा कर रहे थे। जब रानी ने अपना स्वप्न राजा को सुनाया तो राजा ने प्रख्यात ब्राह्मणों से प्रामर्श किया और स्वप्न का फल पूछा। "चिन्ता न कीजिए महाराज", ब्राह्मणों ने कहा, "आप को एक पुत्र होगा।

---

[1] देखिये लेखक की रचना 'Gautama the Buddha', Hind Kitabs 1946.

और यदि उसने गृहस्थ जीवन स्वीकार किया तो, वह सार्वभौम सम्राट् होगा, किन्तु यदि उसने गृहस्थ जीवन छोड़ दिया और संसार से विरक्त हो गया तो वह बुद्ध हो जायगा और इस संसार के पाप और अज्ञान को उच्छिन्न कर देगा।"

सिद्धार्थ का लालन-पालन कपिलवस्तु में हुआ, समयानुसार उनका विवाह हो गया और उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल था और जो बाद में उनका शिष्य हो गया। सिद्धार्थ अपने युग की अशान्ति से विचलित थे और सांसारिक पदार्थों और सुखों के अनिश्चय और उनकी अनित्यता का उन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मनुष्य का सुख वैसे ही अस्थायी और चंचल है जैसे छाया। उन्होंने जीवन को प्रत्यक्ष करने और इन सब दृश्यों के सत्य को जानने का आग्रहपूर्ण निश्चय किया। सत्य की खोज में उन्होंने अपना घर छोड़ दिया और वर्षों के संघर्ष के बाद—जिस संघर्ष में उन्होंने सत्य-प्राप्ति की विविध पद्धतियों की परीक्षा की—वे बोधि वृक्ष के नीचे इस दृढ़ संकल्प के साथ बैठ गये कि जब तक उन्हें सत्य की प्राप्ति न हो जायेगी वे उस आसन से न उठेंगे। "मेरा शरीर सूख जाय, मेरी त्वचा, अस्थियाँ और मांस नष्ट हो जायँ, मैं इस आसन से तब तक न हिलूँगा जब तक मुझे ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति न हो जायगी।"[१] उन्हें सत्य की प्राप्ति हुई और उन्होंने बहुसंख्यक जन-समूहों को ज्ञानोपदेश दिया। उन्होंने सत्यान्वेषियों की एक विहार-परम्परा प्रतिष्ठित की और

---

[१] इहासने सुष्यतु मे शरीरम्
त्वगस्थिमांसम् प्रलयम् चयातु
अप्राप्य बोधिम् बहुकल्प दुर्लभम्
नैवासनात् कायम् एतत् चलिष्यति ॥—ललितविस्तार।

१०

अनेक शिष्य आकर्षित कर लिए। अपना सम्प्रदाय स्थापित करने के शीघ्र ही बाद उन्होंने छोटे-छोटे गुटों में अपने अनुयायियों को धर्म-प्रचारार्थ दूर-दूर भेजा। उनका आदेश था, "आगे बढ़ो, बन्धुओं, इस धर्मोद्देश्य के साथ जो बहुतों के हित के लिए--बहुजनहिताय—है, बहुतों के सुख के लिए--बहुजन सुखाय—है, संसार पर दयावृष्टि के लिए और देवों तथा मानवों के लाभ और कल्याण और सुख के लिए आगे बढ़ो। एक-एक अकेले मत जाओ, जोड़ों में जाओ। उस सत्य की शिक्षा दो जिसका मूल मनोज्ञ है, जिसका विकास कमनीय है और जिसकी सिद्धि मनोहर है। अपने शब्दों में और अपनी भावना में सम्पूर्ण पूर्णता और पवित्रता के साथ महत्तर जीवन की उद्घोषणा करो। ऐसे जीव है जिनको आंखों में धूल छाई है जो सत्य न जान पाने के कारण नष्ट हो रहे हैं।"[१] वह ८० वर्ष को अवस्था में दिवंगत हुए।

बुद्ध अपने आप को एक धर्मोपदेशक मानते थे। अपने प्रबोध या ज्ञानलाभ को वह सार्वभौम-विधान का एक उदाहरण मानते थे जिसकी पुष्टि व्यक्तिगत अनुभव में होती है। अन्तर्ज्ञान का आधार है जीवन की पवित्रता। आत्मिक मुक्ति का मार्ग है नैतिक अनुशासन। लोग उनके सम्बन्ध में कहने लगे: "वह ज्ञान जानते है, दर्शन देखते हैं, वह विश्व-चक्षु हैं, वह मूर्तज्ञान हैं...वह मूर्त सत्य हैं...वही हमें उपदेश देते ह, वही आवृत सत्य को अनावृत करते हैं, वही कल्याण की वर्षा करते हैं और हमें अमरत्व देते हैं, वह धर्म देव है।"[२] वह विश्व के साथ नैतिक संवृति या अविरोध का उपदेश देते हैं और परिवर्तन के

---

[१] दीर्घनिकाय, १४, २२। महावग्ग, १, १२ भी देखें।
[२] संयुक्तनिकाय, १४, ९४।

प्रवाह से बचकर सत्ता की शान्ति और आनन्द-स्थिति तक पहुँचने का मार्ग दिखाते हैं। उनकी मृत्यु के बाद उनके उपदेशों को पालि-संहिता में संग्रहीत किया गया। उनके धर्म-प्रचार का द्विविध उद्देश्य उनके अनेक वचनों से स्पष्ट होता है। "मैं केवल एक ही बात की शिक्षा देता हूँ, दुःख और दुःख से मुक्ति, असत्--बुराई से दूर हटना और सत—भलाई को ग्रहण करना, अन्तर्हृदय को शुद्ध करना।" उनका उद्देश्य और उपदेश था अपने शिष्यों को परम शान्ति और निर्वाण की अनुभूति सिद्ध कराना, इस सिद्धि का साधन था नैतिक जीवन का अभ्यास जिसका प्रारम्भ सत् विचारों से होता है और जिसकी परिणति या पूर्ति सर्वातिशायी अथवा परम आनन्द और मुक्ति में होती है।

उनके उपदेश

उपनिषदों का आदर्शवाद उस समय देश के वायुमण्डल में था; परम-सत्ता, अवर्णनीय परम-शुद्ध ब्रह्म-आत्मा जिसके वर्णन में शब्द असफल रहते हैं, व्यक्ति उस परम-सत्ता की एक अभिव्यक्ति, नैतिक अनुशासन इस रहस्यवादी अनुभूति का एक साधन, कर्म और संसार आदि-आदि से सम्बन्धित उपनिषदों के सिद्धान्त वातावरण में छाये थे और बुद्ध ने इन्हीं का उपयोग एक भिन्न प्रकार से किया। उनका दृष्टिकोण निर्विकल्प बुद्धिवादी दृष्टिकोण था। हमें तथ्यों को प्रत्यक्ष करके अपने सिद्धान्त बनाने चाहिए। आत्मा तक उठने के लिए बुद्धि की अस्वीकृति या उपेक्षा आवश्यक नहीं है। तर्क या बुद्धि को अस्वीकार या उपेक्षित करने की आद्ययुगीन प्रवृत्ति बुद्ध की भावना से बहुत दूर—उसके लिए विदेशी है। उनके कोई आवृत रहस्य नहीं थे। अपने शिष्यों

से वह खुलकर बात करते थे, उनसे कुछ भी छिपाते न थे।[1] बुद्ध की अध्यात्म-पद्धति में ज्ञानोदय और बौद्धिक प्रक्रिया का संग्रन्थन किया गया है। बोधि या ज्ञानोदय में संसार का नियमन करने वाले कार्य-कारण-विधान के समझ लेने से सहायता मिलती है। बुद्ध एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाते हैं जो चिन्तन-मूलक होने की अपेक्षा वैज्ञानिक अधिक हैं और अन्तिम या परम-सत्यों के सम्बन्ध में वे कोई दृढ़ सिद्धान्त नहीं निश्चित करते। उनकी आध्यात्मिक प्रतिज्ञायें आध्यात्मिक चिन्तनायें या परिकल्पनायें नहीं हैं; बल्कि सूक्ष्म मनोविज्ञान की अवधारणाओं पर आधारित हैं। उनके चार सत्य चेतना के अव्यवहित-उपन्यास या प्रत्यक्ष प्राप्य-तत्वों पर आधारित हैं।

समस्त परिमित पदार्थों की अनित्यता हमारे अनुभव का विषय है। जो कुछ भी अनित्य है उसमें कोई वास्तविकता या आत्म-तत्व नहीं है। निरन्तर परिवर्तित होनेवाले इस जगत या संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। यद्यपि यह स्वयं अनादि और अनन्त है फिर भी इससे छुटकारा पाया जा सकता है। यह अनित्यता धर्माकांक्षा के लिए प्रेरक शक्ति है। यदि हमारा जीवन अशान्त न होकर शान्त होता तो धर्म का कोई विचार ही न आता। "यदि तीन चीजों का अस्तित्व न होता तो संसार में बुद्ध का आविर्भाव न होता और न उनके सिद्धान्त और विधान प्रकाश में आते।" "वे तीन चीजें क्या हैं?" "जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु।" अपनी तात्कालिक अनुभूति से परे गये बिना और एक व्यक्ति-रूप ईश्वर का सिद्धान्त घोषित किये बिना भी मनुष्य यह स्वीकार कर सकता है कि एक चिरन्तन सत्ता है जो हमसे भिन्न है और जो

[1] Cp Analects. VII 23.

सदाचार और धर्म की प्रेरणा देती है और जो उपनिषदों के ब्रह्म का ही दूसरा नाम है। श्री लाओत्सू की भांति बुद्ध ने भी बाह्य-जीवन या दृश्य जीवन और अन्तर्जीवन का विभेद और विरोध बताया है। जब हम दृश्य-जीवन के भीतर प्रवेश करते हैं और अन्तर्जीवन की गहराइयों को छू पाते हैं तब उस महान् सत्ता के साथ हमारी एकता स्थापित होती है। इस विश्व-सत्ता की चेतना या अनुभूति से हमारी प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है। यह रूपान्तर एक नवीन जीवन है, एक नवीन व्यक्ति का निर्माण है। धर्म की वास्तविकता न तो ब्रह्म-विद्या का कोई दृढ़ सिद्धान्त है और न अध्यात्म-विद्या की कोई परिकल्पना। यह तो चेतना के तात्कालिक या प्रत्यक्ष-तात्विक सिद्धान्त रूप में सोचा गया है। "जो चिरन्तन नहीं है वह इस योग्य नहीं कि उस पर सन्तोष की दृष्टि डाली जाय।" हमारा लक्ष्य वह होना चाहिए जो स्थिर है, नित्य है, जिसमें आत्म-तत्व है---वह अपरिमेय निर्वाण जो सभी प्रकार के विकारों से मुक्त है। यदि बुद्ध व्यक्ति के आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते तो इसका कारण यह है कि उन्हें इस बात का भय है कि हम अपनी वर्तमान स्थिति और सत्ता में ही अपने को सत्य-तत्व मानकर एक मिथ्या-सुरक्षा की भावना में असावधान हो जायंगे। हमारे सभी विचार, इच्छायें, प्रवृत्तियाँ, इन्द्रियाँ और उनके विषय---सभी परिवर्तनशील अनित्य हैं। हम उनसे बचना ही चाहिए। जो सत्य है वह चिरन्तन है, नित्य है; और यह सब अनित्य हैं। यह सब आत्म-तत्व-शून्य हैं, अवास्तविक हैं। बुद्ध की नैतिक प्रवृति उन्हें यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित करने को प्रेरित करती है कि व्यक्तियों का कोई परम आत्म-निर्धारित अस्तित्व नहीं है। यदि उनमें वास्तविकता हो तो फिर उनका कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि नैतिक उपदेशों को प्रभावपूर्ण

होना है तो व्यक्ति को परिवर्तन-क्षम होना चाहिए। नित्य-तत्व, सत्य-आत्म की प्राप्ति के लिए हमें अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग करना होगा। हमारे मस्तिष्क में विवेक-बुद्धि होनी चाहिए और हमारा संकल्प अविश्रान्त रहना चाहिए। यदि हमारा संसार असन्तोष-जनक है तो इसलिए कि वह क्षणभंगुर है और अज्ञानी है। संसार का क्लेश नष्ट किया जा सकता है। हम दुःखी हैं अपनी मूढ़ इच्छाओं के कारण; यदि हम उनसे मुक्ति पा जायें और अपना नव-निर्माण कर लें तो हम प्रसन्न हो जायंगे। सुखी जीवन अचानक अनायास मिलने वाली चीज नहीं है; बल्कि ऐसी चीज है जिसका सत्-विचारों, सत्-शब्दों और सत्-कर्मों-द्वारा निर्माण किया जाता है। हम अपनी प्रकृति का नव-निर्माण अभ्यास और संस्कार द्वारा कर सकते हैं, अपने हृदय को पवित्र बनाकर और नैतिक विधान का अनुगमन करके। मनुष्य की वास्तविक प्रकृति विचार या भाव उतना नहीं है जितना कि संकल्प; और यदि हम संसार के दुःख से बचना चाहते हैं तो हमें इस संकल्प से ही काम लेना होगा। बुद्ध अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करते हैं कि वे अपने भीतर "पुरुषों के योग्य शक्ति, ओज और उद्यम"[1] उत्पन्न करें। संकल्प-शक्ति के प्रयोग का अर्थ है एकाग्रता या ध्यान का केन्द्रीकरण। केवल सत्कांक्षायें, भूत-दयावादी आशायें ही पर्याप्त नहीं हैं। मनुष्य के शुद्ध विचारों और वास्तविक मनोविकारों के बीच की खाई केवल मस्तिष्क और हृदय की शुद्धि या पवित्रता से ही पाटी जा सकती है। बुद्ध आत्म-निर्भरता को प्रोत्साहन देते हैं और आत्म-संयम की शिक्षा। ईश्वरीय इच्छा के प्रति समर्पण की विनय-भावना तो बाद में दिखाई देती है,

---

[1] पुरिसत्थमेण, पुरिसविरियेण, परक्कमेण—मज्झिम निकाय।

ऐतिहासिक बुद्ध के उपदेशों में वह हमें नहीं मिलती। उनकी दृष्टि में तो, "आत्मा ही आत्मा का अधिपति है। दूसरा और कौन अधिपति हो सकता है?" अपने जीवन के अन्तिम क्षण में बुद्ध ने अपने अनुयायियों को "आत्म-शरण" होने का उपदेश दिया।

यद्यपि बुद्ध ने यह सिद्ध किया है कि अज्ञान ही संसार-शृंखला की प्रधान कड़ी है पर इससे मुक्ति चार सत्यों के सैद्धान्तिक-ज्ञान से नहीं मिल सकती, बल्कि केवल उन पर आचरण करने से ही मिल सकती है। अज्ञान का पराभव या नाश संकल्प शक्ति के गहन अभ्यास का अनुगामी है। बुद्ध का सिद्धान्त एक जीवन-मार्ग है। जो भी इस मार्ग पर चलता है और लक्ष्य तक पहुँच जाता है वही बुद्ध है, तथागत है। हमारे लिए आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम निर्वाण की प्राप्ति में दत्तचित हो जायँ। चिन्तन की कठिनाइयाँ तब तक हल नहीं होंगी जब तक हम परम-ज्ञान की प्राप्ति न कर लेंगे। और जो कोई भी बीच में ही उनको हल करने का प्रयत्न करेगा वह तात्विक एकाग्रता के मार्ग से अलग पड़ जायेगा। बहुत से शिष्यों ने इस बात की शिकायत की कि उन्हें उनके इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिला कि यह संसार साद्यन्त है या अनाद्यन्त, नित्य है या अनित्य और मृत्यु के बाद साधु का अस्तित्व रहता है या नहीं। बुद्ध कहते हैं कि उन्होंने शिष्यों से इस रहस्य का उद्घाटन नहीं किया "क्योंकि यह मोहनाश या ज्ञान-प्राप्ति में सहायक नहीं है, न चेतना के विधि-तत्व से उसका कोई सम्बन्ध है, न वह हमारी इच्छाओं की निवृत्ति, विकारों के नाश, उपशम, शान्ति, उच्च-भावना और परम ज्ञान में और न निर्वाण में ही सहायक है।"[1]

---

१ मज्झिमनिकाय, सूत्र ६३।

भगवान बुद्ध अपने आप को उस रोग के चिकित्सक मानते थे जिससे मानव-प्रकृति ग्रस्त है। जो कोई बुद्ध के उपदेशों पर व्यवहार करने से तब तक इन्कार करता है जब तक यह आध्यात्मिक समस्यायें सुलझ न जायं उसकी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है जो विषाक्त तीर से घायल हो चुका है पर तब तक चिकित्सक की सहायता लेने को तैयार नहीं जब तक उसे इस बात का पता चल न जाय कि उसे तीर मारने वाला व्यक्ति हल्के या गहरे रंग का था और ब्राह्मण था या क्षत्री। इन प्रश्नों के जो भी उत्तर बुद्ध दे सकते हैं वे केवल उनके विचार या दृष्किोण होंगे न कि निश्चित मत और उनसे मोहनाश या ज्ञान-प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती। बुद्ध अपने अनुयायियों को किम्वदन्तियों, परम्पराओं या स्वयं अपनी ही आधिकारिक वाणी से आध्यात्मिक सत्य स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते थे। श्री कन्फ्यूशियस की भाँति बुद्ध भी भविष्य की कल्पनाओं में नहीं पड़ते थे।[1] कन्फ्यूशियस की भाँति वह सच्चरित्रता के निर्माण पर जोर देते हैं जिसका फल होता है सत् कार्य। वे मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त की घोषणा करते हैं। वे चाहते हैं कि हम अपने लिए आत्मासक्ति और आत्म-पीड़न के अतिवादों के बीच से अपना मार्ग बनायें। उन्होंने किसी तापस-विधान या अस्वाभाविक नीति-शास्त्र की निर्धारणा नहीं की। उरुवेला में उन्होंने कठोर तपस्या की थी और उस समस्त शरीर-यातना को उन्होंने असन्तोषजनक पाया था। आत्म-पीड़न से ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। उन्होंने चिन्तन की स्वाभाविक पद्धति स्वीकार की। अपने शिष्यों को अपना अन्तिम उपदेश देते हुए उन्होंने चिन्तन की महत्ता

---

१ Analects XI. II.

पर जोर दिया था : "ऋजु या सत्य-आचरण-समन्वित चिन्तन का फल महान् है। चिन्तन से अनुमोदित ज्ञान का लाभ महान् है। जिस मस्तिष्क में ऐसा ज्ञान होता है वह समस्त प्रमादों से, इन्द्रियों की कांक्षाओं से, जीवन के प्यार से, मोह-जालों से और अज्ञान से मुक्ति पा जाता है।" बुद्ध के समय में सभी विचारक यह स्वीकार करते थे कि जो आत्मिक-जीवन बिताना चाहते हों उन्हें सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पानी चाहिए। किन्तु बौद्ध महन्तों को बौद्धिक कार्यों और सामाजिक सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करना होता था। भगवान बुद्ध ने अध्यात्म-शास्त्र और यज्ञादिक से बिलकुल मुक्त अपना मार्ग बनाया और यह उपदेश दिया कि धार्मिक जीवन का अर्थ है अष्ट-मुखी नैतिकता का पालन। उनके अनुयायी को अपना जीवन एक नैतिक-विधान के अनुकूल बनाना पड़ता है। यद्यपि वे देव-पूजा का निषेध नहीं करते पर उसकी ओर से वे उदासीन और निरपेक्ष अवश्य हैं। उनका यह दृष्टिकोण श्री कन्फ्यूशियस के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है। श्री कन्फ्यूशियस भी एक नैतिक-विधान का पालन करने का आदेश देते हैं। यदि उसके साथ-साथ आप देव-पूजा भी करते हैं तो इससे कन्फ्यूशियस रुष्ट नहीं होते। बुद्ध ने संस्कार और पौरोहित्य-विधानों की उपेक्षा की थी। उनका उपयोग उसी हद तक है जिस हद तक वे मनुष्य के मन में अच्छी आदतों का अभ्यास डालते हैं। उनके उपदेश तात्विक रूप में व्यावहारिक हैं। "जैसे महान् सागर का स्वाद केवल एक है--खारा; उसी प्रकार सिद्धान्त और अनुशासन का स्वाद या फल केवल एक है--मुक्ति या निर्वाण।"[१] दुःखों से बचने के लिए

---

१ चूलवग्ग, ९, १, ४।

हमें पवित्र जीवन बिताना चाहिए। अष्टांग-मार्ग ही आनन्द का मार्ग है। बुद्ध ने मैत्री का आदेश दिया है "सत्-कार्य के सभी अवसर प्रेम के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं, प्रेम हृदय को मुक्त कर देता है। हृदय को मुक्ति देने वाले प्रेम में वे सब सत्-कार्य समाये रहते हैं; प्रेम प्रकाशमान है, वह ज्योति और दीप्ति देता है।"[१] "जैसे एक माँ अपने जीवन का खतरा उठाकर भी अपने इकलौते बच्चे की रक्षा करती है, इसी प्रकार का प्रेम प्रत्येक व्यक्ति को प्राणिमात्र के प्रति उत्पन्न करना चाहिए।"[२]

बुद्ध ने पितृ-भक्ति पर उतना ही जोर दिया है जितना कन्फ्यूशियस ने। उनका कहना है कि दो सत्तायें ऐसी होती हैं—पिता और माता—जिनसे कभी भी पूर्ण रूप से उऋण नहीं हुआ जा सकता।[३] "यदि कोई व्यक्ति अपने माता-पिता को १०० वर्षों तक अपने कन्धे पर बिठा कर घुमा सके या संसार की सारी सम्पत्ति और सारा राज्य उन्हें दे सके तो भी वह अपना ऋण अदा नहीं कर सकेगा।" महावग्ग में हमें एक ऐसे स्थविर का वर्णन मिलता है जिसने संघ की सारी सम्पत्ति अपने माता-पिता को दे दी; लेकिन इसके लिए उसे कोई दोष नहीं लगाया गया[४]। सिगालोवाद सूत्त[५] में बताया गया है कि भिक्षा मांगते हुए एक दिन प्रातः काल भगवान बुद्ध गृहस्थ सिगाल के सम्मुख आ उपस्थित हुए। सिगाल उस समय हाथ जोड़े चारों दिशाओं तथा ऊर्ध्व और अधो-दिशा को नमस्कार कर रहा था। उसका उद्देश्य इन छहों दिशाओं से

---

१ इतिवक्त, ३, ७।

२ सूत्तनिपात, १, ८।

३ अंगुत्तर निकाय, ५, २, ४।

४ VIII 22.

५ दीग्घनिकाय, ३१।

आने वाले अनिष्टों को रोकना था। भगवान बुद्ध ने उसे बताया कि अपनी रक्षा करने का सही रास्ता यह है कि अपने माता-पिता को वह पूर्व दिशा समझे, अपने गुरुओं को दक्षिण दिशा, अपनी पत्नी और बच्चों को पश्चिम दिशा, अपने मित्रों को उत्तर दिशा, अपने भृत्यों को अधो दिशा और महन्तों और ब्राह्मणों को ऊर्ध्व दिशा समझें। और तब बुद्ध ने (१) माता-पिता और पुत्र, (२) शिष्य और गुरु (३) पति और पत्नी (४) मित्र (५) स्वामी और भृत्य और (६) गृहस्थ और पुरोहित के सम्बन्धों की व्याख्या की। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध कन्फ़्यूशियन नीति के पांच सम्बन्धों की याद दिलाते हैं जिनमें से तीन तो उनके और बुद्ध के विधान में उभयनिष्ठ हैं, माता-पिता और पुत्र, पति और पत्नी, और मित्र। चीनी लोगों से भिन्न एक भारतीय में राजनीतिक अभिरुचि के स्थान पर धार्मिक-वृत्ति अधिक होती है; इसीलिए बुद्ध गुरुओं और उनके शिष्यों और गृहस्थ तथा पुरोहित के सम्बन्धों पर अधिक ज़ोर देते हैं तथा शासक और शासित के पारस्परिक कर्तव्यों को छोड़ देते हैं।

बुद्ध नियमों के प्रति मतान्ध या कट्टर नहीं थे। जीवन की अनन्त परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल वह उनका मेल बैठाने के लिए तैयार थे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि सूक्ष्म वाह्य-नियमों और विधानों से मनुष्य की नैतिक स्वायत्तता पर आघात न पहुँचने पाये। बुद्ध ने इस बात की प्रयत्न-पूर्वक घोषणा की है कि वाह्य-अधिकारों द्वारा व्यक्ति-चेतना का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। अपने ऊपर आने वाली बुराइयों या प्राप्त होने वाली भलाइयों में प्रत्येक मनुष्य, कर्म के विधान के अनुसार अपने ही बोये हुए बीजों——कर्मों के फल पाता है। कर्म-विधान के व्यवहार में हस्तक्षेप करने वाली कोई

स्वेच्छाचारिणी या चपल दैवी शक्ति नहीं है। हम जो कुछ रहे हैं वही, हम जो कुछ हैं उसका, निर्माण करता है। बुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के लिए कुछ सामान्योपरि या अलौकिक शक्तियों का प्राप्त कर सकना सम्भव है जैसे हवा में तैरना आदि ; यह शक्तियाँ कुछ ऐसी विशिष्ट आध्यात्मिक सामर्थ्य का विकास करने से प्राप्त होती हैं जिसका बहुत लम्बे अरसे तक प्रयोग न होने से क्षय हो जाता है। बुद्ध ने इन शक्तियों को धर्म में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया। श्री कन्फ्यूशियस की भाँति वे भी इस सम्बन्ध में अत्यधिक वाग्यती बने रहे।[1] समाधि और मूर्छा को वे असन्तोषप्रद मानते थे।[2]

श्री कन्फ्यूशियस की भाँति बुद्ध भी लोक प्रचलित देवताओं के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते और न उनकी पूजा का निषेध ही करते हैं। ये देवगण संसार के सृष्टा और शासक नहीं है, वल्कि ये आध्यात्मिक सत्तायें हैं जिनके पृथक-पृथक क्षेत्र और पृथक-पृथक शक्तियाँ हैं। परम-सत्ता के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती है।

अपने लक्ष्य तक पहुँचने पर हमें बोधि—अन्तर्ज्ञान, पूर्णता और दृष्टि की शुद्धता की प्राप्ति हो जाती है। संसार के स्वप्न से हम जाग पड़ते हैं। सम्यक् ज्ञान बौद्ध-साधना-पथ का सप्तम अवस्थान है, इस पथ का अन्तिम लक्ष्य है सम्यक् आनन्द। निर्वाण का शब्दिक अर्थ है इच्छाओं का शमन—काम, द्वेष और मोह की अग्नि का शमन। यह कोरी शून्यता नहीं हैं, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने शमन का अर्थ विनाश या अनस्तित्व मानने का विरोध किया है। निषेधार्थ में निर्वाण का तात्पर्य है अनित्य से मुक्ति और उसका अविकल्प अर्थ है अनन्त-जीवन। इस स्थिति का

---

[1] Cp Analects, VII. 20.
[2] संयुत्त निकाय, ३६, १९।

सम्यक् वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह स्थिति हमारी सामान्य चेतना के स्तरों से अत्यन्त परे है। निर्वाण अजन्मा, असृष्ट और अमर है।[1] "फिर भी वह परमानन्द है, परम सुख है। जिसने निर्वाण की प्राप्ति कर ली है वह 'गम्भीर, अनवगाह्य, और अमेय है जैसे गहन सागर।' "निर्वाण का परमानन्द इस वर्तमान जीवन में प्राप्त होता है। यह वह आनन्दावस्था नहीं है जो किसी आने वाली दुनियाँ में प्राप्त होने को हो, बल्कि आत्मा की पूर्ण-मुक्ति है जो यहीं इसी जीवन में प्राप्त होती है। यह कोई विश्राम की जड़-स्थिति नहीं बल्कि एक सक्रिय परम शान्ति है। जब हमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जब जीवन का सत्य अर्थ और उद्देश्य हम समझ पाते हैं, तब दुष्कृत्यों की क्षति-पूर्ति, अन्याय के दमन, दुःखों की निवृत्ति और मानव-जाति के आध्यात्मिक कल्याण में सहयोग करने की हमारी इच्छा होगी। स्वयं भगवान् बुद्ध का अपना जीवन ही एक असीम और अगाध शान्ति तथा विश्वानुकम्पा का उदाहरण है। गम्भीर ज्ञान और असीम प्रेम निर्वाण के लक्षण हैं। जहाँ एक ओर हीनयान में अर्हत् की कल्पना चिन्तन-स्वरूप में की गई है वहाँ दूसरी ओर महायान के बोधि-सत्त्व की कल्पना दया सागर भगवान् के रूप में की गई है जो सभी मनुष्यों की ज्ञान-प्राप्ति सम्भव बनाने के लिए अपने परम निर्वाण को स्थगित कर देते हैं।' "यतः मेरी यह कामना है कि सभी सचेतन प्राणियों को नितान्त मुक्ति प्राप्त हो, अतः मैं अपने संगी जीवों का त्याग नहीं करूँगा।"[2] ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व में अर्हत की शान्ति और विरक्ति तथा बोधि-सत्त्व के प्रेम और उनकी अनुकम्पा का संयोग है। मैत्री और सत्य-

---

[1] अजातम्, अभूतम्, अमृतम्—उदान।

[2] अवतंसक सूत्र।

निष्ठापूर्ण अपने लम्बे जीवन में उन्होंने धनी और निर्धन, पुरुष और स्त्री, सामान्य जन और विद्वान्, पापी और महात्मा सभी के प्रति प्रेम और पवित्रता की शक्ति प्रदर्शित की। पिटकों में बुद्ध की सर्वज्ञता और पवित्रता का वर्णन किया गया है और उन्हें अनेक बार देवताओं का अनुशासन करते और उनका सम्मान पाते दिखाया गया है।

महायान बौद्ध-धर्म का प्रारम्भ

बुद्ध की मृत्यु के बाद बहुत शीघ्र पाखण्ड उठ खड़ा हुआ और बुद्ध के आलेखों में भी (तीसरी शती ई० पूर्व) मत-विभेदों की चर्चा है। विभिन्न शाखाओं के इन विवादों का समझौता करने के उद्देश्य से २४० ई० पूर्व के लगभग अशोक ने एक परिषद् बुलाई थी। समय बीतने पर कई शाखाओं का विकास हुआ जो मोटे तौर पर हीनयान और महायान में विभक्त हैं। महायान का यह नाम इसलिए पड़ा कि उसमें प्रेम और श्रद्धा द्वारा सभी जीवों के उद्धार की आशा ठीक उसी प्रकार दिखाई गई है जिस प्रकार ज्ञान के द्वारा। कनिष्क के शासन-काल में, जो ई० सं० की पहली शती के उत्तरार्ध में थे, काश्मीर में एक परिषद् बैठी थी जिस में महायान बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया गया था। हीनयान के शास्त्र-ग्रन्थ पाली भाषा में सुरक्षित हैं और यह दावा किया जाता है कि वेही ग्रन्थ महात्मा बुद्ध के युक्ति-सिद्ध हेतु-न्यायवादी और भिक्षुओं के विहार-आश्रम सम्बन्धी उपदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं। महायान के शास्त्र-ग्रन्थ संस्कृत में हैं। महायान में ऐसे विकास की व्याख्या है जो रहस्यवादी और भक्ति-मूलक है। हीनयान में त्रि-रत्न पर विश्वास किया जाता है, वे त्रि-रत्न हैं, (१) बुद्ध, (२) धर्म और

(३) संघ। बुद्ध का सत्यस्वरूप है उनकी अन्तर्दृष्टि--बोधि या ज्ञान-ज्योति, उनका धर्म। धर्म का जानना ही बुद्ध का जानना है। धर्म ही बुद्ध की काया है। यह धर्म-काया ही मूल तात्विक-सत्ता है जो अमलिन है, अपरिवर्तनशील है, अप्रतिम है और सर्वोपरि है।

आध्यात्मिक आदर्शवाद और भक्तिमूलक विश्वास के समन्वय में महायान विचार-धारा भगवद्गीता से मिलती जुलती है। दोनों में ही यह उपदेश है कि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है--केवल उसे निष्काम होना चाहिए। दोनों में ही श्रद्धा पर जोर दिया गया है। दोनों की ही घोषणा है कि यदि हम मृत्यु के समय कृष्ण या अमिताभ का चिन्तन करें तो हम उन्हीं के धाम को प्रयाण करते हैं। स्वर्ग के द्वार स्त्रियों और समाज से वहिष्कृत लोगों के लिए खुले हुए हैं। जैसे-जैसे भक्ति की महत्ता बढ़ती जाती है, चिन्तन पूजन में परिवर्तित होता जाता है और उपदेशक बुद्ध एक देवता बन जाते हैं।' "मैं संसार का पिता हूँ। सभी मनुष्य मेरे बच्चे हैं और सभी को बुद्धत्व प्राप्त होना है।"[1]

महायान बौद्ध-धर्म रहस्यवादी भक्ति और आध्यात्मिक आयास का धर्म है। "अपने रुग्ण साथी की सेवा स्थविर करे, वह मेरी ही सेवा कर रहा है"—बुद्ध ने अपने एक मार्मिक अवतरण में कहा है। सेवा और आत्म-बलिदान पर बुद्ध ने जोर दिया है। यदि हम बुद्ध की शरण जाते हैं तो इसका यह अर्थ है कि बुद्ध और उनके पुजारी के बीच कोई सम्बन्ध है। निर्वाण-प्राप्ति के पहिले बुद्ध एक बोधि-सत्त्व थे। बोधि-सत्त्व रूप में बुद्ध का चरित्र दीपंकर के समय से प्रारम्भ होता है जो चौबीस बुद्धों में से प्रथम थे। अगणित जन्मों और यातना तथा बलिदान

---

१ सद्धर्म पुण्डरीक।

के जीवनों को पार करते हुए गौतम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं। एक बोधिसत्त्व भावी बुद्ध है, कोई भी जो अपने वर्तमान या भविष्य जीवन में बुद्ध होने के लिए निश्चित है। जातक या जन्म-कथाओं में अनेक बोधि-सत्त्वों की चर्चा है। मिलिन्द पण में मैत्रेय बोधि-सत्त्व की चर्चा है[1] महापयान सूत्त जैसे अन्य ग्रन्थों में पूर्व-बुद्धों का बर्णन आया है जो चौबीस बताये गये हैं। एक दृष्टि से हम सभी बोधि-सत्त्व हैं, यद्यपि हमारे भीतर जो बोधि है वह अभी प्रगट नहीं हो सका। जिनमें बोधि प्रगट हो जाता है वे अपने समस्त कार्यों को संसार की रक्षा की सिद्धि में लगा देते हैं। गौतम के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि धरती पर एक भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ अपने किसी न किसी पूर्व-जन्म में उन्होंने अपना जीवन दूसरों के लिए बलिदान न किया हो। बोधि-सत्त्व संसार के दुःखों से उदासीन या निरपेक्ष नहीं रह सकते। वे अपना जीवन-मार्ग प्रारम्भ करते हैं "संसार के प्रति अपनी करुणा के कारण, देवों और मनुष्यों समेत समस्त संसार के लाभ, कल्याण और सुख के लिए, समस्त जीवों के पूर्ण निर्वाण के लिए····इसलिए उन्हें बोधि-सत्त्व महा-सत्त्व कहा जाता है।[2] चन्द्रकीर्ति का कहना है कि जैसे नवीन चन्द्रमा की पूजा की जाती है न कि पूर्ण-चन्द्र की, उसी प्रकार बोधि-सत्त्वों की उपासना बुद्धों की अपेक्षा अधिक की जाती है। "जब मैं पास ही खड़ा हुआ हूँ तब क्या कोई दूसरा किसी छोटे काम को करेगा? यदि अपने गर्व के कारण मैं वह काम नहीं करता तो अच्छा है कि मेरा गर्व नष्ट हो जाय····तब दृढ़ आत्मा के साथ अकर्म के कारणों को मैं नष्ट कर दूंगा; यदि वे कारण मुझे पराजित कर ले जाँय तो त्रैलोक्य-विजय की

[1] दीर्घ निकाय, १०, ६, ५, १५,
[2] सधर्मपुण्डरीक।

मेरी महत्त्वाकांक्षा तो एक मज़ाक हो जायगी। मैं सब पर विजय पाऊँगा; कोई भी मुझ पर विजय नहीं पायेगा।"[1] भगवान् बुद्ध का अपना जीवन इस तथ्य का उदाहरण है कि यहाँ इसी जीवन में हम अनवरत प्रयत्न से परम-शान्ति और सुख प्राप्त कर सकते हैं और इसके साथ ही साथ संसार के लिए कल्याणकारी कार्य कर सकते हैं। बोधि-सत्त्व करुणा और ज्ञान के देवदूत होते हैं जो यातना-ग्रस्त मानवता की सहायता के लिए अपने निर्वाण-प्रवेश को अनिश्चित काल के लिए स्थगित किये होते हैं। श्री अवलोकितेश्वर और मंजुश्री जैसे महान बोधि-सत्त्व निर्वाण में प्रवेश करने से इसलिए इनकार कर देते हैं कि वे संसार की यातनाओं का प्रशमन कर सकें। बोधि-सत्त्व बुद्ध-प्रभव होते हैं और उनका प्रारम्भ होता है। वे संसार के सृष्टा नहीं है बल्कि मानव-जाति के सहायक हैं। बुद्ध स्वयं सृष्टा नहीं थे बल्कि केवल एक चिकित्सक थे--एक त्राता—जिसने मुक्ति का एक मार्ग निर्दिष्ट किया। बोधि-सत्त्व-आदर्श हिन्दुओं की अवतार-धारणा का प्रतिरूप है। बोधि-सत्त्वों या पारमितों के गुण हैं उदारता, नैतिकता, क्षमा, एकाग्र-चिन्तन और सर्वातिशायी ज्ञान; और आगे चल कर इन गुणों में पांच और गुण जोड़ दिये गये—प्रातिभ-ज्ञान, शक्ति, संकल्प, उपदेश-कौशल

[1] श्री शान्ति देव के बोधि चर्यावतार (७ वीं शती ई०)--अंग्रेजी अनुवाद श्री बार्नेट द्वारा (१९०२)--में उन लोगों के लिए आचार-निर्देश दिये हुए हैं जिन्हें बोधि-सत्त्व बनने की अभिलाषा हो। उन्हें दृढ़ नैतिकता, शान्ति, ऊर्जस्विता, चिन्तन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बुद्धों और बोधि-सत्त्वों के प्रति उन्हें भक्ति रखनी चाहिए। जो भी विभूति उनमें हो या वे प्राप्त करें वह सब दूसरों को देनी चाहिए और समस्त प्राणियों की मुक्ति के लिए उन्हें अपने आप को बलिदान करना चाहिए।

और करुणा। यहाँ सहनशीलता और शक्ति की अपेक्षा उदारता पर और करुणा पर अधिक जोर दिया गया है।

महायान सम्प्रदाय में इस सिद्धान्त पर विश्वास है कि एक का गुण दूसरे में अवस्थित किया जा सकता है। समस्त जीवन के अन्योन्याश्रय पर इस मत में जोर दिया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि एक के द्वारा अर्जित गुण या विभूति का उपयोग दूसरों के कल्याण में किया जा सकता है। कोई भी मनुष्य केवल अपने आप के लिए ही नहीं जीता।

महायान का अध्यात्म-शास्त्र

अद्वैत वेदान्त की भाँति महायान विचारकों का विश्वास है कि परम-तत्त्व समस्त संकल्पों से परे है और उसका वर्णन केवल सत्स्वरूप या सत्-सत्ता, भूततथता, अथवा शून्य कहकर किया जा सकता है, वह जो प्रयोग-सिद्ध निरुपण से शून्य है। तथागत, जो सत्सत्ता को प्राप्त हो चुके हैं, स्वयं तथता या सत्ता में समाहित हो जाते हैं। नागार्जुन कहते हैं--"वह कोई उत्पाद-उत्पति नहीं है, कोई उच्छेद-विनाश नहीं है, कोई निरोध नहीं है, कोई शास्वत नहीं है, कोई एकार्थ नहीं है, नानार्थ नहीं है, आगमन नहीं है, और निर्गम नहीं है।" यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि दृश्य-वस्तु-जगत से जो परे है उसके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि इस दृश्य जगत की वस्तुयें आत्म-विरोधिनी हैं और इसलिए अन्ततः सत्य या सत्रूप नहीं हैं। उनका अस्तित्व केवल सापेक्ष हैं। यदि सब असत् ही है तो फिर बुद्ध

और उनके उपदेशों की ही क्या प्रामाणिकता है? नागार्जुन कहते हैं कि बुद्ध दो प्रकार के सत्यों की बात कहते हैं, एक तो परम सत्य, परमार्थ और दूसरा सापेक्ष सत्य, संवृत्ति। श्री असंग और वसुबन्धु का योगाचार-सम्प्रदाय तीन प्रकार के ज्ञान स्वीकार करता है—(१) परिकल्पित सत्य, भ्रांतिपूर्ण ज्ञान जैसे रस्सी में साँप का बोध, (२) परतंत्र सत्य, सापेक्ष ज्ञान जैसे रस्सी में रस्सी का बोध, और (३) परिनिष्पन्न सत्य, जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि रस्सी हमारी मानसिक सृष्टि है और उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इन प्रथम दो को तो सापेक्ष ज्ञान (संवृत्ति) के भीतर ले लिया गया है और अंतिम परमार्थ या परम सत्य है। योगाचार का मत है कि सभी वस्तुओं का प्रशमन एक अनन्त और सर्वाशय या सर्वोत्तम प्रज्ञा, आलय-विज्ञान में होता है। यह भी भूततथता की अभिव्यक्ति ही है, स्वयं भूततथता नहीं है। योगाचार के मत से पदार्थ-विश्व विचारों का वहिर्भूतीकरण है, पर सत्ता का और अधिक निर्विकल्प वर्णन आत्मा रूप में किया गया है; और समस्त विचार का मूल और आधार आलय-विज्ञान इस आत्मा का सर्वाधिक निकट उपस्थापन है।

जैसा कि अद्वैत वेदान्त में कहा गया है, हमारी अनुभूति का विश्व न तो स विश्व से भिन्न है और न उससे एक-रूप। यह मत ग़लत है कि माध्यमिक मत या सिद्धान्त संसार को सर्वथा अनस्तित्वमय मानता है। उसका तो नाम ही बताता है कि वह मध्य-मार्ग का सम्प्रदाय है। संसार न तो मूल-सत्ता है और न कोरा अनस्तित्व। पदार्थों की कोई परम या स्वतंत्र सत्ता नहीं है, यथार्थता का यह गुण तो केवल नित्य-परम-सत्ता को ही प्राप्त है—और फिर भी पदार्थ नितान्त असत् या अनिस्तत्वमय भी नहीं हैं। उनका अस्तित्व उनके सम्बन्धों के कारण

है। अनुभूति के विविध अधिकरणों की एक सूक्ष्म और साहसपूर्ण नैय्यायिक आलोचना करते हुए श्री नागार्जुन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान में हमें किसी प्रकार की निश्चयात्मकता नहीं प्राप्त होती। फिर भी हमें सत्ता का एक आन्तरिक दर्शन होता है—ज्योतिर्मय, अनवगाह्य, अनिर्वचनीय, गाम्भीर्य और अपरिसीम-प्रसन्नता-पूर्ण। मूल प्रकृति का प्रातिभ ज्ञान, प्रज्ञापारमिता, ज्ञान की पूर्णता, प्राप्त की जा सकती है। दृश्य-जगत एक अर्थ में उससे भिन्न है और दूसरे अर्थ में उससे एक-रूप है। यह मत, जो शंकर का है—यह कि संसार सत् असत्-विलक्षण है—माध्यमिक सम्प्रदाय की यह मान्यता बुद्ध के उपदेशों से मेल खाती है। यह कि पदार्थ सत् हैं, एक अतिवाद है; यह कि पदार्थ असत् हैं, दूसरा अतिवाद है। तथागत ने इन अतिवादों से अपने को बचाया और उन्होंने मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया है।"

जहाँ परा-विद्या के मत से केवल परम-सत्ता ही सत् है, वहाँ सामान्य अनुभव या सापेक्षसत्य के संसार में ईश्वरवाद या आस्तिकवाद के साथ अवतारवाद की भी मान्यता है।

महायान तीन कायाओं पर विश्वास करता है। (१) धर्म-काया या सत्य काया, जो उपनिषदों के शुद्ध-ब्रह्म का प्रतिरूप है, (२) सम्भोग काया या दैवी अभिव्यक्ति, जो ईश्वर या व्यक्ति-रूप विधाता का प्रतिरूप है, (३) निर्माण-काया जो भौतिक अभिव्यक्तियाँ हैं, अवतारों के प्रतिरूप, व्यक्ति-रूप बुद्ध।

धर्म-काया सर्वव्यापी मूलाधार है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या संस्कार नहीं होता, पर जिसका आभास हमें विविध रूपों में मिलता है। वह सब पदार्थों का अकर्तृक-मूलाधार है जिसे विविध नामों से अभिहित

किया जाता है—तत्त्व, शून्य, निर्वाण, समाधि-काया, बोधि, प्रज्ञा—वह अलौकिक ज्ञान जो प्रकृति और पुरुष के भेदों से ऊपर है, तथागत-गर्भ या सिद्धि लाभ करनेवालों का गर्भ, धर्म-धातु—समस्त पदार्थों का उत्पत्ति-विकास-स्थल, श्री अश्वघोष के महायान श्रद्धोत्पत्ति में वर्णित भूततथता।[1] कहा गया है कि वह "न अस्तित्वमय है और न अनस्तित्वमय, न दोनों न दो में एक।" उपनिषदों में ब्रह्म के वर्णन और श्री लाओत्सू के ताओ के वर्णन की याद दिलानेवाली भाषा में धर्म-काया को इतना महान् बताया गया है कि समस्त विश्व उसके आक्रोष में आ जाता है और इतना लघु बताया गया है कि सुई की नोक से उसे भेदा नहीं जा सकता। वह शुद्ध आत्मा है, केवल ज्ञान, नानात्व के संसर्ग से मुक्त। केवल वही सत् है। धर्म-काया शून्य उसी अर्थ में है जिस अर्थ में ब्रह्म निर्गुण है। बोधि-रूप में वह हम सबके भीतर अवस्थित है और हमें बुद्ध बनने के लिए प्रेरित करता है। उसे प्रज्ञा-पारमिता कहा जाता है और उसे देवी, सर्वेश की शक्ति के रूप में निरूपित किया गया गया है—वह आविर्भाविनी शक्ति जो आविर्भूत होनेवाले तत्त्व से अवियोज्य है। धर्म-काया समस्त पदार्थों की निःशेषता है। हमारे अज्ञान के कारण पदार्थों में नानात्व दिखाई देता है। योगाचार-मत से हमारा दृश्य-जगत् विज्ञान है—मानसिक अवस्थाओं की एक शृंखला है, माध्यमिक मत से वह असत् है।

स्वर्ग में निवास करनेवालों के लिए परम-तत्त्व, धर्म-काया की अभिव्यक्ति सम्भोग-काया—आनन्द-स्वरूप के नाम-रूप में होती है—वह रूप जिसमें बुद्ध अपने दिव्य आवासों में प्रगट होते हैं; और धरती

---

[1] The Awakening of Faith.

पर रहनेवालों के लिए उसकी अभिव्यक्ति निर्माण-काया के नाम-रूप में होती है। बुद्ध या बुद्धों को व्यक्ति-रूप ईश्वर माना गया है, पुरातन सर्वव्यापी और सर्व-शक्तिमान। जैसे ईश्वर को विष्णु या शिव माना जाता है वैसे ही सम्भोग-काया के भी अनेक रूप हो सकते हैं। सत्य के शोधक और उपदेशक बुद्ध का मानव-जीवन विश्व-तत्त्व की अभिव्यक्ति या उसका आविर्भाव है। यह आविर्भाव अगणित बुद्धों में होता है, जो गौतम बुद्ध के पूर्वगामी हो चुके हैं और अनुगामी होंगे और जो अन्य विश्वों में स्वर्गों के शासक हैं। यहाँ किसी अप्रतिम या आद्य-बुद्ध का प्रश्न ही नहीं है। असंग कहते हैं--"यह असम्भव है कि केवल एक ही बुद्ध हुए हों, क्योंकि फिर तो समस्त बोधि-सत्त्वों में से केवल एक ही, शेष सब को छोड़कर, ज्ञान-ज्योति प्राप्त कर सकेगा।"

फिर भी सभी बुद्ध एक बुद्ध-स्थिति के अंग हैं, उस धर्म-काया-- शुद्ध ज्ञान के अंग जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय एक-रूप हैं। उपनिषदों के एक प्रसिद्ध श्लोक की उपमा लेते हुए आसंग कहते हैं--"सरिताओं के जल अपने-अपने धरातल के कारण भिन्न जान पड़ते हैं, किन्तु एक बार सागर में प्रविष्ट हो जाने पर उन सब का धरातल एक हो जाता है और सब एक जल-राशि बन जाते हैं।" एक सामान्य बुद्ध-स्थिति में प्रवेश कर जाने पर सभी सन्तों की यही स्थिति होती है। बुद्ध-स्थिति प्राप्त कर लेने पर हम नवीन सृष्टि बन जाते हैं। महायान सम्प्रदाय में ऐतिहासिक बुद्ध के स्थान पर अनादि अनन्त बुद्ध की प्रतिष्ठा की गई है। धरती पर का उनका जीवन उनके अस्तित्व का सत्य और उपयुक्त स्वरूप नहीं है। सद्धर्मपुण्डरीक में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि बुद्ध ने सांसारिक रूप कैसे धारण किया; जो उत्तर इस प्रश्न का बुद्ध ने दिया है वह हमें भगवद्गीता में कहे हुए कृष्ण के

वाक्य और जो जोहानी ईसा (Johannine Christ) के उत्तर की याद दिलाता है—"जब अब्राहम थे उससे भी पूर्वकालीन मैं हूँ।" "तथागत इस त्रैलोक्य को अज्ञानी साधारण लोगों की भाँति नहीं देखते, वह पदार्थों को निरन्तर उपस्थित देखते हैं। तथागत, जिनको बहुत पहले पूर्ण ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति हो चुकी थी, उनकी जीवन की अवधि अनन्त है। 'वह अतन्तागत हैं। जिन्हें शिक्षा की आवश्यकता है उनके कल्याण के लिए वह शरीर धारण करते हैं।" "जब लोग अविश्वासी, अज्ञानी और इन्द्रिय-सुखों के लोलुप बन जाते हैं तब विश्व की गति जाननेवाला मैं घोषित करता हूँ कि मैं तथागत हूँ और मैं वह उपाय सोचता हूँ जिसके द्वारा इन लोगों को ज्ञानाभिमुख किया जाय--जिससे मैं उन्हें बुद्ध-विधान के भागी बना सकूँ।"[1] श्रद्धालुओं के मोह-नाश और ज्ञान-वृद्धि के लिए बुद्ध किसी समय भी प्रगट हो सकते हैं। यह स्पष्ट है कि महायान सम्प्रदाय में परम सत्ता का हृदय एक भाव-सूक्ष्म तत्त्व नहीं है बल्कि वह प्रेम और करुणा से आप्लावित है।

बुद्ध अनेक हैं, क्योंकि महायान मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य बुद्ध बनना है। इन सब बुद्धों में से सबसे अधिक जनप्रिय हैं अमिताभ या अमिदा। वे शुद्ध देश—सुखावती—के स्वर्ग में शासन करते हैं। युगों पहले अमिताभ एक महान् राजा थे जिन्होंने अपना सिंहासन त्याग दिया और सत्य की खोज में परिव्राजक बन गये। तत्कालीन बुद्ध के निर्देश में उन्होंने बोधि-सत्त्व पद प्राप्त किया और बुद्ध बनने के अनेक संकल्प किये, समस्त जीवधारियों के त्राण और एक

---

[1] देखिये भगवद्गीता, ४, ६-८।

ऐसे स्वर्ग के निर्माण की शपथें लीं जिसमें पुण्यश्लोक आत्मायें शाश्वत सुख, ज्ञान और विमलता की स्थिति में निवास कर सकें। उनका संकल्प इस प्रकार है—"जब मैं बुद्ध बनूं तो विश्व की दशों दिशाओं के समस्त जीवधारियों को मुझ पर विश्वास और आनन्दपूर्ण आस्था रखनी चाहिए; उन्हें मेरे स्वर्ग में पुनर्जन्म पाने की एकान्त-कामना करनी चाहिए; उन्हें मेरे नाम का स्मरण करना चाहिए, चाहे वह दस ही बार या उससे भी कम करें और तब यदि उन्होंने पाँच गर्हित पाप नहीं किये और सत्य-धर्म का परिवाद व निन्दा कथन नहीं किया तो ऐसे लोगों की मेरे स्वर्ग में उत्पन्न होने की कामना अवश्य पूर्ण होगी। और यदि ऐसा न हो तो मैं कभी भी बुद्धत्व न प्राप्त कर सकूँ!" महायान भक्ति-साहित्य उपासना, कामना और समर्पण से भरे स्तुति-गीतों और प्रार्थनाओं से भरा पड़ा है जिनको पढ़कर वैष्णव और शैव स्तुतियों की याद आती है। बोधि चर्यावतार में कहा गया है—"मैं दुर्बल हूँ, दीन हूँ। मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं जिससे अपनी अर्चना व्यक्त कर सकूँ। लेकिन अपनी महान् उदारता में ही त्राता स्वयं मेरा समर्पण स्वीकार करें। मैं अपने आपको अपने हृदय और सर्वस्व के साथ बुद्धों और उनके पुत्रों, (बोधि-सत्वों) के प्रति समर्पित करता हूँ। महासत्व मुझे स्वायत्त करें। मैं आप की अर्चना करता हूँ और आप का दास होने की शपथ लेता हूँ।" लघु सुखावती व्यूह में अमिताभ के स्वर्ग की चर्चा करते हुए लिखा है—"बुद्ध के उस देश में जीवों का जन्म वर्तमान जीवन में किये गये सत्कर्मों के परिणाम और पुरस्कार स्वरूप नहीं होता। नहीं, बल्कि वे सभी पुरुष और स्त्री जो मृत्यु के समय एक, दो, तीन, चार, पाँच, छै, अथवा सात रातों तक अमिताभ के नाम को सुनते हैं और उसे अपने ध्यान में रखते हैं, मृत्यु के समय अमिताभ उनके सम्मुख खड़े

रहेंगे। शान्त मन वे लोग इस जीवन से बिदा लेंगे और मृत्यु के बाद स्वर्ग में उत्पन्न होंगे।"[1] जो लोग अमिताभ के स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं वे आध्यात्मिक शरीर ग्रहण करते हैं। अमिताभ का स्वर्ग निर्वाण नहीं है, वह तो बुद्ध-क्षेत्र है। महायान सम्प्रदाय में निर्वाण की कामना के स्थान पर मंगलमय पश्चिमी स्वर्ग में जन्म पाने की आशा प्रतिष्ठित की गई है।

यहाँ हमें भक्ति-सम्प्रदाय के सभी तत्व मिलते हैं। अमिताभ मनुष्यों को अपनी ओर खींचते हैं और उन्होंने अपने पुत्र गौतम को मनुष्यों का मार्ग-प्रदर्शन करके उन्हें अपने समीप लाने के लिए भेजा। अवलोकितेश्वर की पवित्र आत्मा के माध्यम से वह सर्वदा सुलभ हैं। यहाँ श्रद्धा द्वारा मुक्ति है। यदि अपने अन्तिम क्षणों में हम अमिताभ की तेजस्वी मूर्ति का चिन्तन करें तो हम उनके स्वर्ग को प्राप्त हो जाते हैं।

निर्माण-काया पूर्व-स्थिति द्वारा उत्सेधित दृश्य-स्थिति है जो इन्द्रिय-धारियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए होती है। बुद्धों द्वारा ग्रहीत मानव-स्वरूप उनकी सत् प्रकृति की केवल आंशिक और अपर्याप्त अभिव्यक्ति मात्र हैं। हिन्दू आस्तिकवाद की भाँति यह स्वरूप दिव्य शक्ति द्वारा उपासकों के हेतु—साधकानाम् हितार्थाय—धारण किये जाते हैं। असंग का कथन है—"अपने अन्तर्तम में बोधि-सत्त्व को जीवों के प्रति वैसा ही प्रेम है जैसा किसी व्यक्ति को अपने इकलौते पुत्र के प्रति होता है। जैसे कपोतिका अपने बच्चों की रक्षा करती है और उन्हें अपने पंखों के नीचे लेने को स्थिर

---

[1] देखिए भगवद्गीता, ८-६।

रहती है वैसे ही कारुणिक बुद्ध जीवों की रक्षा करते हैं जो उनके बच्चे हैं।" बोधि-सत्व संसार और बुद्धावस्था के बीच मध्यस्थों का काम करते हैं।[१]

अवलोकितेश्वर और मंजुश्री बोधि-सत्व करुणा और ज्ञान के मूर्त-रूप हैं। अवलोकितेश्वर प्रायः नारी तारा के संग रहते हैं जिनकी पूजा एक नारी बोधि-सत्व के रूप में होती है। करुणा के देव के रूप में अवलोकितेश्वर नाना रूप धारण करते हैं। मंजुश्री को हाथ में ज्ञान-करवाल और पुस्तक लिए हुए चित्रित किया गया है। इनके बाद मैत्रेय का स्थान है जिन्हें अजित भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक बोधि-सत्व हैं। वे सभी संत्रस्त मानवता को क्लेश-मुक्त करने के लिए उस पर अपनी छाया डालते हैं।[२]

महायान की शिक्षा भारतीय धर्म के अनुरूप है इस दृष्टि से कि उसमें इतनी पर्याप्त उदारता है कि वह परम-सत्ता के अनन्त नानाविध

---

[१] प्लेटो के सिद्धान्त से तुलना कीजिये। फीड्रस और सिम्पोजियम (Phœdrus And Symposium) में 'प्रथम-सिद्धान्त' सर्वोपरि और "जीवन जगत् से परे" (Republic) प्रतिष्ठित किया गया है। यह मध्यस्थों द्वारा लोगों की इच्छाओं को परिचालित करता है, मध्यस्थ देव या दानव होते हैं जो मनुष्यों और परम दैवी शक्ति के मध्यवर्ती होते हैं, अमर होते हैं किन्तु धरती पर दिवोत्तिमा के एरोस--कामदेव—(Diotima's Eros) की भाँति रहते हैं।

[२] एक यह दृष्टिकोण भी है कि आत्मा के तीन अवभास या आविर्भूत रूप हैं--अन्तर्निहित परम-सत्ता, ईश्वर में उसका आविर्भाव और उसीका सक्रियरूप, जो पिता परमेश्वर, पुत्र परमेश्वर और पवित्रात्मा परमेश्वर से मिलते-जुलते हैं।

प्रतीक रूपों को अपने में सम्मिलित कर सकती है। जो लोग इस व्यापक उदार दृष्टिकोण के लिए अभी तैयार नहीं हैं उनके लिए वह हीनयान सम्प्रदाय का उपयोग करती है। अज्ञानियों को सत्य का दर्शन कराने के अनेक मार्ग हैं। अन्तर्गूढ़-सत्ता की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में अनेक प्रतीकों को सहन और स्वीकार करने की क्षमता ने महायान धर्म को यह शक्ति दी है कि वह अपने आपको नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बना सके। उसका अध्यात्म-शास्त्र और धर्म हिन्दू-धर्म के सबल प्रभाव में विकसित हुआ है। हिन्दू-धर्म की देव-सृष्टि से अनेक देवों और देवियों को स्वीकार कर लिया गया है। महायान में निर्वाण का वर्णन ऐसा किया गया है कि वह पहले से ही सम्पन्न सत्य तथ्य है। उसका निर्माण नहीं होता। जैसे ही हमारा अज्ञान नष्ट होता है निर्वाण हमें मिल जाता है। निर्वाण का अर्जन या सर्जन नहीं होता। निर्वाण न मुक्तानुबन्धी है और न उसका विनाश हो सकता है। समस्त प्रयोग-सिद्ध विभेदों और पदार्थों से वह ऊपर है। ज्ञान और प्रेम उसमें एकाकार हैं। जिन लोगों में बोधि-चित्त सजग हो जाता है वे भूत-समुदाय की रक्षा के लिए अपने आपको बलिदान कर देते हैं। यह सांसारिक जीवन निर्वाण की सत्ता से हमें दूर नहीं ले जाता। उपपन्नता भी अस्तित्व ही है। यद्यपि यह जीवन असत् है फिर भी अर्थ-हीन नहीं है। विमलकीर्ति-सूत्र का कथन है—"जैसे कमल पुष्प सूखी धरती पर नहीं उत्पन्न होता बल्कि जलमय अन्ध-कीचड़ से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बोधिचित्त या ज्ञानमय हृदय की उत्पत्ति होती है। कामना और पाप के पंक से ही बुद्धत्व के बीज अंकुरित और विकसित होते हैं।" जब हम इस बुद्ध-प्रकृति, बोधिचित्त का विकास कर लेते हैं जो बुद्ध की तात्विक प्रकृति है, तब हम समस्त बुद्धों के साथ एक हो जाते हैं,

तब हमें प्रज्ञा अथवा आध्यात्मिक ज्ञान-दीप्ति और करुणा अथवा निस्वार्थ परहितरति प्राप्त हो जाती है।

महायान बौद्ध-धर्म ने लोगों को न केवल बुद्धों के स्वर्ग का आह्वान दिया बल्कि धरती पर एक व्यवस्थित और स्वस्थ जीवन की भी प्रेरणा दी। उसका उद्देश्य था सभी मनुष्यों को सुखी बनाना। संसार में जीवन की प्रेरणा धर्म-भावना से मिलनी चाहिए। जैसे अर्हत का आदर्श हटा कर उसका स्थान बोधिसत्व के आदर्श ने ले लिया, ठीक उसी प्रकार तापस के आदर्श का स्थान गृहस्थ के आदर्श ने ले लिया। कामना यह थी कि संसार में रहा जाय पर संसार का बन कर नहीं। महन्तों की परम्परा चलती रही पर देव-विभूति-सम्पन्न सामान्य व्यक्ति को भी गौरव-पद दिया गया। संस्कृत ग्रन्थ विमलकीर्ति-निर्देश[1] में वर्णित विमलकीर्ति का चरित्र बताता है कि कैसे हम लोगों में घुल-मिल सकते हैं, घरों में रह सकते हैं सामान्य लोगों और पापियों के मित्र बन सकते हैं और फिर भी साधु बने रह सकते हैं। विमलकीर्ति वैशाली में रहते थे पर 'केवल जीवों की रक्षा के आवश्यक उपाय के निमित्त; अत्यन्त सम्पन्न, सर्वदा दीनों की चिन्ता करने वाले आत्मानुशासन में विशुद्ध, समस्त धार्मिक उपदेशों का पालन करने वाले, शान्ति के अभ्यास से समस्त क्रोध दूर करते हुए, उद्यम के अभ्यास से समस्त आलस्य दूर करते हुए, एकाग्र चिन्तन से समस्त क्षोभ मिटाते हुए, ज्ञान की पूर्णता से समस्त अज्ञान दूर करते हुए; यद्यपि वह सामान्य गृहस्थ मात्र थे फिर भी शुद्ध विहारिक अनुशासन

[1] मूल संस्कृत-ग्रन्थ खो गया है पर उसके चीनी रूपान्तर का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर इदुमी ने किया है--Eastern Buddhist III, (१९३८-३९)

का पालन करते थे; यद्यपि उनके एक पत्नी थी और बच्चे थे फिर भी वह शुद्ध धर्माचरण का पालन करते थे; यद्यपि वह परिवार से घिरे थे, फिर भी वह सांसारिक जीवन से अपने को बिलकुल अलग रखते थे; यद्यपि हीरक-जटित सांसारिक आभूषणों का प्रयोग करते थे फिर भी वह आध्यात्मिक विभा से विभासित थे; यद्यपि खाते-पीते थे फिर भी चिन्तन के आह्लाद से आनन्द पाते थे; यद्यपि द्यूतशालाओं में जाते थे फिर भी जुआरी लोगों को सत्-पथ का प्रदर्शन करते थे; यद्यपि किम्वदन्तियों और पाखण्ड-पन्थों के संसर्ग में आते थे फिर भी अपनी सत्य-श्रद्धा पर कभी आँच न आने देते थे; यद्यपि सांसारिक विद्याओं का उन्हें गम्भीर ज्ञान था फिर भी बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आध्यात्मिक तथ्यों में ही उन्हें सर्वदा आनन्द मिलता था; यद्यपि सभी प्रकार की वृत्तियों या व्यवसायों से वह लाभ उठाते थे फिर भी उनमें निमग्न हो जाने से बहुत दूर रहते थे; सर्वदा विद्यालय में प्रवेश करने पर युवकों और अज्ञानियों को उपदेश देते थे; व्यभिचार के अड्डों या वेश्यालयों में प्रवेश करने पर सब को कामुकता की बुराइयाँ स्पष्ट करते थे; मद्य-विक्रेता की दुकान पर पहुँचने पर सबको उच्चतर पदार्थों की खोज के लिए प्रेरित करते थे; धनिकों के बीच सद्धर्म का उपदेश देते थे; क्षत्रियों को शान्ति सिखाते थे; ब्राह्मणों के बीच पहुँचने पर उनका दर्प दूर करते थे; महामंत्रियों को न्याय का उपदेश देते थे; राजकुमारों को निष्ठा कम कीजिये और पितृ-भक्ति का उपदेश देते थे; राजदरबार की महिलाओं को ईमानदारी का उपदेश देते थे; जनता में सद्गुणों की कामना और रक्षा का उपदेश देते थे।" अपने अद्वैत अध्यात्म-शास्त्र और आस्तिक-धर्म से समन्वित, महायान शाखा के अनेक सिद्धान्त और उनके विस्तृत प्रयोग भगवद्गीता के उपदेशों से मिलते जुलते, उनके

७

चीन में बौद्ध धर्म

जब गौतम बुद्ध गंगा की घाटी में अपना उपदेश दे रहे थे तब कन्फ़्यूशियस और लाओ त्सू चीनी जनता के आद्य-ब्रह्मवादी विश्वास का संस्कार कर रहे थे। ये उपदेश यद्यपि अपनी परम्पराओं में भिन्न थे फिर भी उनका उद्देश्य सामान्य या एक था, और वह था अपने अनुयायियों के मन में आध्यात्मिक विधान-धर्म या ताओ का प्रभाव डालना। उन सबको इस विश्व पर और इस विश्व में काम करनेवाले एक आध्यात्मिक उद्देश्य पर विश्वास था। ईसा के जन्म से भी पहले की सदियों में बौद्ध-धर्म का उपदेश और प्रचार, उसके प्रतिष्ठाता के आदेश का पालन करते हुए, अनेक देशों में किया गया। जैसे-जैसे यह धर्म एक देश से दूसरे देश में फैलता गया वैसे-वैसे वह महत्त्वपूर्ण स्थानीय तत्त्वों को स्वायत्त करता हुआ समृद्ध होता गया।

जब बौद्ध धर्म का प्रवेश चीन की विचार-धारा में हुआ तब वह कन्फ़्यूशियसवादी और ताओवादी दर्शनों से घुलमिल गया और इस प्रकार उसका विकास एक ऐसे पृथक् रूप में हुआ जो चीन के लिए विशिष्ट था। उसमें चिन्तन-मूलक ज्ञान पर वैसे ही जोर दिया गया जैसे समाज की सेवा पर। ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय से बौद्ध

धर्म ने विद्वानों और आध्यात्मिक लोगों—दोनों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।[१]

जिस समय बौद्ध धर्म का ज्ञान चीन के लोगों को हुआ उस समय चीन की परिस्थिति उसकी स्वीकृति के बिलकुल अनुकूल थी। कन्फ्यूशियस का धर्म गम्भीरतम आध्यात्मिक प्रश्नों का कोई उत्तर न दे पाता था और न लोगों की धार्मिक पिपासा को ही शान्त कर पाता था।[२] दूसरी ओर ताओवाद ने धार्मिक चिन्तन की कामना जगा दी थी, एक ऐसे अनिश्चत 'कुछ' की कामना जगा दी थी जो जीवन को प्रकाश और अमरता की आशा से भर देता। उसमें तो इसका भी संकेत किया गया था कि ऐसा कोई धर्म पश्चिम से अर्थात् भारत से आयेगा। बौद्ध-धर्म की ज्योतिर्मय आध्यात्मिकता और उसके धार्मिक अनुष्ठान व उपासना के उज्वल स्वरूपों की बड़ी प्रशंसा की गई। मृत माता-पिता के प्रति चीनी लोगों की भक्ति को बौद्ध धर्म मृतात्माओं के प्रति अपनी प्रार्थनाओं में सुरक्षित बनाये रहा। मृत्योपरि जीवन की स्वाभाविक मानव-आशा को भी उसने सन्तुष्ट किया। छठीं सदी में भारतीय विद्वान बोधिरुचि ने, जिन्होंने अमितायुस सूत्रोपदेश का

---

१ "बौद्ध धर्म ने चीन की पूर्ण आध्यात्मिक विजय प्राप्त की थी। न केवल चीन की मूर्तिकला और कुछ अर्थों में चीन की चित्रकला बल्कि चीन का समस्त बौद्धिक जीवन बौद्ध धर्म में निमग्न हो गया।"—A Short History of Chinese Civilisation, by Wilhelm (1929), p 245.

२ 'अस्तित्व के गूढ़तम प्रश्नों का कोई उत्तर इसने न दिया; न तो जीवन-संग्राम के लिए इसने शक्ति दी और न मृत्यु के क्षणों में विश्राम-सुख।'–Truth and Tradition in Buddhism, by Reichelt, E. T. (१९२७), पृ० ९।

चीनी भाषा में अनुवाद किया था, एक ताओवादी रसायनिक को जीवन के अमृत की व्यर्थ खोज करने के कारण फटकारा था :

कितनी व्यर्थ प्रार्थनायें यह
पाँच बीसियों के जीवन की
जो है इतना क्षुद्र कि जितना देख रहे हो ?—
तब, जब अक्षय-जीवन रक्षित
मोद-भरा अपवर्ग तुम्हें अमितायु कृपा से।[1]

चीनी लोगों की गम्भीर आध्यात्मिक प्रकृति को बौद्धधर्म ने अपने नैतिक-अभ्यास द्वारा निर्वाण तथा आध्यात्मिक हेतु-वाद या कर्म योग के सिद्धान्त से बहुत उद्दीप किया। अस्थिर देवताओं और एक पूर्वाव धारण मूलक दर्शन के दैवायत्तभाग्यवाद से पीड़ित लोगों को बुद्ध का सन्देश है : "आदि और अन्त, काल और अनन्तता के प्रश्नों से परेशान मत हो।" "सत्य यह है—वह जो है, तो यह अवश्य होगा; वह जो उदय हुआ, उसी से इसका उद्भव है। यदि उसका अस्तित्व न हो तो इसका भी अस्तित्व न हो पाता। उसके लय हो जाने से इसका भी लय हो जाता है।"[2] बुद्धिवादियों को यह जानकर बड़ी आश्वस्ति मिलेगी कि यह विश्व-व्यवस्था-मूलक है और मनुष्य को अपने भाग्य-निर्माण की पूरी स्वाधीनता है। अन्तर्भावना और तितिक्षा के ताओवादी आदर्श पहले ही बौद्ध रहस्यवाद की अमूल्य विरासत हो चुके थे। ताओवाद के कुछ देवताओं को बौद्ध-धर्म में स्वीकार कर लिया गया।

---

[1] Saunders: Epochs of Buddhist History (१९२४) पृष्ठ १२२।
[2] मज्झिमनिकाय, ७९।

साहित्य

चीनी भाषा में अनुदित होनेवाला प्रथम बौद्ध ग्रन्थ है बयालिस परिच्छेदों का सूत्र जिसका अनुवाद काश्यप मातंग ने किया था। इसमें श्री कन्फ़्यूशियस के 'अनालेक्टस् की शैली में बुद्ध के उपदेशों के उद्धरण दिये गये हैं।

अनालेक्टस् की पद्धति में प्रत्येक पैराग्राफ का प्रारम्भ 'प्रभु कहते हैं' शब्दों से होता है। उसमें कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म, चिन्तन और तपश्चर्या तथा समस्त जीवन की पवित्रता का उपदेश दिया है। समस्त जीवन में पशु-जीवन भी सम्मिलित है। अर्हत को आदर्श माना गया है और बोधि-सत्त्व की धारणा का कोई उल्लेख नहीं है। चीन जैसे पितृ-भक्ति के देश में विहार का जीवन या स्थविर-जीवन कभी जनप्रिय नहीं हो सकता था; इसलिए इस वैखानस जीवन को कोमल जनप्रिय बनाने के लिए इस सूत्र में पारिवारिक जीवन की स्तुति और उसका उत्कर्ष गाया गया है। यदि कोई स्थविर स्त्रियों से मिलता है तो उसे युवतियों को अपनी बहिनें या बेटियां और वृद्धाओं को अपनी मातायें समझना चाहिए। अन्य हीनयान ग्रन्थों का अनुवाद ई० सन् की तीसरी सदी तक हुआ। चौथी सदी ई० के बाद हीनयान-साहित्य का अपकर्ष प्रारम्भ हुआ यद्यपि भारत से लौटने के बाद ह्वेनत्सँग ने सर्वास्तिवाद ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित कराने में बड़ी अभिरुचि ली। बसुबन्धु के अभिधर्म-कोष का अनुवाद काफी पहले हो चुका था। हीनयान अपनी प्रधानतः शास्त्रीय आध्यात्मिकता और शुद्धतावादी कठोर नैतिकता के कारण चीन में जनप्रिय नहीं हो पाया।

भारत में जो मतभेद बौद्ध धर्म में उत्पन्न हुआ उसे चीन में प्रवेश

१२

होने से नहीं रोका जा सका। करुणा, पवित्रता, और सौजन्यता के अपने महान् आदर्शों के कारण महायान ने चीन की मन: चेतना पर गहरा प्रभाव डाला। महायान का अध्यात्म रहस्यवादी और चिन्तन-मूलक होने के साथ-साथ बुद्धिवादी और सूक्ष्म तथा कठोर भी है; उसका नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी और सामाजिक दोनों है।[1] इसके अतिरिक्त, चीन में प्रवेश करते समय महायान बौद्ध-धर्म स्वयं एक अस्थिर और निर्माण की दशा में था। इसलिए वहाँ उसका विशिष्ट विकास सम्भव हो सका। सन् १४८ ई० में पार्थियन राजकुमार आंशिकाओ और उनके इण्डोसीथियन सहकारी लोकरस ने अमिता-युर्ध्यान-सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस ग्रन्थ ने एक सबल आस्तिकवाद की प्रतिष्ठा की जिसके लिए चीन सदियों से अपने को तैयार कर रहा था। सुखावतीव्यूह, प्रज्ञा पारमिता और अवतंसक सूत्र के कुछ अंशों का अनुवाद चीनी भाषा में सन् १५० ई० तक हो गया और सद्धर्म पुण्डरीक और ललित-विस्तार सन् २०० ई० के लगभग प्रकाशित हुए। धर्मरक्ष (२६६ से ३१३ ई०) ने सद्धर्म पुण्डरीक का अनुवाद किया था; उन्हीं ने उल्लम्बन सूत्र को जनप्रिय बनाया जिसके द्वारा चीनी लोगों की मृतक-श्रद्धा को बौद्ध धर्म में स्थान मिला। कुमारजीव ने, जो सन् ३८३ ई० में चीन आये थे, अश्वघोष और नागार्जुन की जीवनियों तथा कुछ अन्य दार्शनिक ग्रन्थों जैसे

---

[1] डाक्टर हू शी, जो बौद्ध धर्म के कोई बड़े प्रशंसक नहीं हैं, स्वीकार करते हैं कि "बौद्ध धर्म एक अप्रतिहत शक्ति लेकर आया...... कन्फ्यूशियनवाद और ताओवाद की दैवायत्तभाग्यवादिता को उसने छिन्न-भिन्न कर दिया...और आत्मा की अविनश्वरता का विचार चीनी जनता के हृदय में गहरे जमा दिया।"

अवतंसक-सूत्र पर लिखी नागार्जुन की टीका और हरिवर्मा के सत्य—सिद्धिशास्त्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। भारतीय स्थविर परमार्थ ने सन् ५५० ई० में अश्वघोष के महायान् श्रद्धोत्पाद का चीनी भाषा में अनुवाद किया। बाद में महायान् मत के अन्य अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

चीन के शासकों—सम्राट वू (२६५ से २९० ई०) और सम्राट मिन (३१३ से ३१६ ई०)—ने बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत रुचि ली और नानकिंग तथा चेंगनान शहरों में १८० से अधिक धार्मिक प्रतिष्ठान बनवाये। बाद के सम्राटों,—युआनती (३१७ से ३२२), मिंगती (३२२—३२५), चेंगती (३२६—३४२), कीनवेनती (३७१—३७२), हियायु-वूती (३७३—३९६) और नैनती (३९७—४१७)—ने बौद्ध धर्म को मान्यता व संरक्षकता दी। वी राजवंश की नींव सन् ३८६ ई० में उत्तर से आई विदेशी जातियों ने डाली थी और यह राजवंश ईसा की छठी शताब्दी के मध्य तक सत्तारूढ़ रहा; इस राजवंश ने भी बौद्ध-धर्म के प्रसार को प्रोत्साहन दिया और अनेक बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद इसी के शासन-काल में हुए जैसे कुमारजीव, पुण्यत्राता तथा अन्य लोगों द्वारा किये गये अनुवाद।

विमल-धरामत या श्वेत-कमल-सम्प्रदाय

उत्तरी चीन के शांसी स्थान में उत्पन्न हुए एक चीनी बौद्ध श्री हुयी-युआन (३३३—४१६ ई०) ने महायान् सम्प्रदाय के विभिन्न मतों में सबसे प्रमुख मत विमल-धरामत की स्थापना भारतीय उपदेशकों बुद्धयशस् और बुद्धभद्र की सहायता से की। उनकी प्रथम

दीक्षा एक सरोवर के निकट स्थित मठ में हुई थी। उस सरोवर में कमल फूल खिल रह थे इसीलिए उनके सम्प्रदाय का नाम श्वेत-कमल-सम्प्रदाय पड़ा। पर चौदहवीं सदी के प्रारम्भ के लगभग एक गुप्त राजनीतिक संस्था ने अपना यही नाम रख लिया, इसलिए उसके झंझटों से बचने के लिए इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इसका नाम बदल कर 'विमल-धरामत' कर दिया। श्री हुई-युआन तथा अन्य ताओवादियों को अपनी गम्भीरतम धार्मिक कांक्षाओं और जिज्ञासाओं को तृप्ति देनेवाले उत्तर महायान में मिले जिसमें अमिताभ को सर्व-पिता या विश्व-पिता माना गया है। इस सम्प्रदाय में अमितायुर्ध्यान-सूत्र और वृहत् तथा लघु सुखावती व्यूह और अश्वघोष के श्रद्धोत्पाद को शास्त्र-रूप में स्वीकार किया गया है।

इस सम्प्रदाय में समस्त आध्यात्मिक जटिलताओं और सूक्ष्मताओं को सीधे काटते हुए यह शिक्षा दी गई है कि अमिताभ पर सरल श्रद्धा और उनके नाम का अभिवन्दन और आवाहन मुक्ति देता है। इस उपदेश का मूल पुरातन है और उसका प्रभाव सार्वदेशिक। अन्य सम्प्रदायों में अमिताभ की उपासना को मुक्ति-मार्ग के रूप में स्वीकृति दी गई है, भले ही उसे एकमात्र मार्ग या सर्वोत्तम मार्ग न माना गया हो। अश्वघोष के महायान-श्रद्धोत्पाद में एक सूत्र का उल्लेख है जो इस प्रकार है: "यदि कोई व्यक्ति अपने मन-मस्तिष्क को पश्चिम स्वर्गाधिवासी अमिताभ बुद्ध पर एकान्त-केन्द्रित और ध्यानस्थ कर देता है, और यदि उसके सत्कर्म सत्मार्ग पर होते हैं, और यदि वह उस आनन्दमय स्वर्ग में उत्पन्न होने की कामना करता है तो वह वहाँ उत्पन्न होगा और निरन्तर बुद्ध के सम्मुख रहने से फिर कभी उसका पतन नहीं होगा।" "यदि हम अमिताभ बुद्ध के अनाद्यनन्त स्वरूप का

चिन्तन करें तो अन्ततः हम भावी ज्ञान के लोक में पहुँच जायेंगे।"[1]

अमिताभ की धारणा किस प्रकार उत्पन्न हुई इसके विभिन्न वर्णन किये गये हैं। कहा जाता है कि बुद्धत्व-प्राप्ति की समस्त स्थितियों को पार करने के बाद वह अन्तिम बार आनन्द-लोक पश्चिमी स्वर्ग में उत्पन्न हुए जिसे सुखावती कहा जाता है। उसके बाद वह फिर कभी अवतरित नहीं हुए और इसलिए अपने दो बोधिसत्त्वों के माध्यम से, जो सृष्टि की सहायता करते हैं, वे अपना काम करते हैं। कुछ लोग अमिताभ को गौतम से तीन पीढ़ी पूर्वज मानते हैं; और कुछ दूसरे लोग गौतम को ही अमिताभ के अन्तिम अवतारों में से मानते हैं। कुछ और दूसरे लोग अमिताभ को समस्त बुद्धों का समन्वित नाम मानते हैं। नाम स्वयं ही उन समस्त विभूतियों का प्रतीक है, जो बुद्धत्व के लिए आवश्यक हैं। 'अ' का अर्थ है शिवत्व, साधुत्व; 'मि' नैतिक आचार का प्रतीक है, 'ता' का अर्थ है चिन्तन और 'भ' है ज्ञान: सुखावती व्यूह-सूत्र में इसका वर्णन आया है कि किस प्रकार अमिताभ ने जीव-धारियों को दुःख-मुक्त करने की बयालिस शपथें लीं, किस प्रकार उन्होंने अगणित पतित आत्माओं के लिए असीम विभूति और उद्धारक शक्ति संचित की और किस प्रकार वह "अखण्ड-आयुर्ज्ञान-बुद्ध" हैं; यह वर्णन स्वयं गौतम का है। यदि हम परम-स्थिति तक अमिताभ का अनुकरण और अनुगमन करना चाहते हैं तो हम उन्हें अपनी आत्मा में ही पायेंगे। गौतम बुद्ध का सम्मान और अर्चन उपदेश और सम्प्रदाय के सांसारिक प्रतिष्ठाता के रूप में है। निम्नलिखित सुन्दर विनय अमिताभ के प्रति कही गई है:—

---

[1] IV

परम-पुनीत-पूर्ण-देव! तुम भासमान
जग-जन-जीवन में और कण-कण में।
जैसे शुभ्र लीला-लोल चन्द्रिका विलोड़ित है
सरि-सर-सागर सहस्र जल-कण में॥
सतत प्रवाहित प्रसन्न करुणा की धार
देव! छोड़ती न जीव एक भी तपन में।
तिरता सतत शान्त भूत-दया-पोत पूत
पार लाता दुःख पारावार एक-क्षण में॥
व्याधि-बाधा-बाधित विकृत विश्व के महान्
त्राता हो, चिकित्सक हो देव! तुम जग के।
पश्चिम का स्वर्ग सर्व-सुलभ बना के तुम
सबको बुलाते देव! करुणा से पग के॥[1]

चीनी स्थविर श्री युनची ने अमिताभ की प्रतिज्ञा का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

है कदाचित् जीव ऐसा एक भी
कामना जिसकी कि पाए जन्म मेरे राज्य में
और श्रद्धा के प्रसन्नाश्वास में
मग्न मेरे नाम का
आह्वान करता है कभी दश बार भी,
तो न वह वंचित रहेगा उस महा अनुभूति से।
सिद्धि सबको प्राप्त होगी बोध की,—
बोध मेरी योजना का और धर्म-विधान का।
हाँ, सभी को सिद्धि होगी—प्राप्ति होगी ईश की।[2]

---

[1] Reichelt Truth and Tradition in Buddhism (1927) p. 137.
[2] Ibid पृ० १३२.

शुद्ध वाह्य शून्यवाद पर आधारित इस भक्तिमूलक धर्म की प्रधान केन्द्रीय प्रार्थना है: "श्रद्धाविश्वास युक्त में अमिताभ की शरण जाता हूँ।"[1] और यह प्रार्थना दक्षिण चीन से मंचूरिया तक, जापान और कोरिया से साइबेरिया की सीमा तक गूँजती रहती है। यह प्रार्थना उस दिव्यसत्ता के हृदय तक पहुँचने का मार्ग खोल देती है, उस नाम तक पहुँचने का मार्ग जो सब नामों से ऊपर है, जिस नाम के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-लाभ हो सकता है और वह बुद्ध बन सकता है।[2]

इस सम्प्रदाय के दूसरे महान् उपदेशक हैं श्री तानहुआन (५०२—५४९ ई०)। उन्होंने अमिताभ की धारणा की और अधिक व्याख्या—विवृति की। श्री सैनताओ के उपदेशों के द्वारा अमिताभ की धारणा में अनन्त जीवन और प्रतिनिधित्राता सम्बन्धी धारणायें सन्निविष्ट हो चुकी थीं। अमिताभ और उनकी अनुकम्पा और शक्ति के दो महान् ज्ञापकों या प्रकाशकों को लेकर एक त्रिमूर्ति बन चुकी थी और मुक्ति या निर्वाण इन तीनों पर श्रद्धा रखने से प्राप्त होता है। यद्यपि विमल-धरामत का विश्वास है कि करुणा-दया-धवलित

---

१ Nau-Mo O-milo Fu — Chinese
Na-mo Amido Butsu — Japanese
Na-mo Amido pul — Korean

२ "यह मध्य युग के ईसाई धर्म संघ के प्राचीन चूनिओमिष्टिका से भिन्न या निम्न और कुछ नहीं है जो यहाँ फिर एशिया की धरती पर प्रगट हुआ है……वही अन्तर्चिन्तन और आत्मा को परमात्मा में निमज्जित करना जो चिन्तन का सार या आत्मा है।"—Truth and Tradition in Buddhism by Reichelt, P. 116.

अमिताभ के हृदय तक पहुँचने का मार्ग भक्ति है, फिर भी अध्ययन और चिन्तन का बहिष्कार नहीं किया गया। समस्त सृष्टि को अमिताभ में समन्वित समझने वाले ज्ञान और अमिताभ को अपना केन्द्र बनानेवाले ध्यान से अमिताभ पर श्रद्धा की भूमि तैयार होती है। बौद्ध मठों में एक चिन्तनागार होता है। मिंग राजवंश के अन्तिम दिनों में रहनेवाले श्री सीमिंग कहते हैं: "बुद्ध का नाम लेनेवाले सभी लोगों से मैं विनतपूर्वक प्रार्थना, अनुनय और प्रबोधन करता हूँ कि वे सत्यनिष्ठ हृदय से अमिताभ का नाम लेते चलें और इस प्रकार शनैः शनैः उस स्थिति को प्राप्त करें जहाँ फिर हृदय को व्यामोह नहीं हो सकता, जब कमल अपने आप खिल उठता है और हृदय बुद्ध के दर्शन करता है।[१]

यह सम्प्रदाय महायान सम्प्रदाय का ही एक विकास है क्योंकि यह ऐतिहासिक बुद्ध को अनाद्यनन्त सत्ता की अनेक अभिव्यक्तियों में से एक मानता है—उस सत्ता की अभिव्यक्ति जिसे धर्म-काया अथवा तथता कहा गया है और शब्दों में जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। बोधिसत्वयान अथवा बोधि-सत्त्वों के मार्ग पर उसे विश्वास है। इस मार्ग में दीक्षित होने के लिए हमें संघर्ष-रत मानवता के हित में बलिदान का जीवन बिताना होगा। यह मत श्रद्धा को उद्धारक तत्त्व मानने वाला है और उस महान् नवीन जन्म पर विश्वास रखता है जो पश्चिमी स्वर्ग में जहाँ विश्व भर के महान् कारुणिक पिता का निवास और शासन है जिन्होंने सर्वशक्तिशाली को धरती पर मनुष्य के रूप में भेजा है जो अब अपनी करुणामयी भावना

[१] The Catechism of The Pure Land Doctrine में उल्लिखित।

(कुग्रानयिन) से लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। अपनी इन मान्यताओं के बल पर यह मत चीन की धार्मिक आत्माओं को एक ऐसा विश्वास देता है जो उनके हृदयों को छू लेता है।

चाँन बौद्धधर्म

चाँन या जेन बौद्ध-मत के प्रतिष्ठाता श्री बोधिधर्म हैं जो दक्षिणी भारत के कांजीवरम के एक उपदेशक थे और गौतम के बाद ईश्वर-दूतों की अट्ठाइसवीं पीढ़ी में होने का दावा करते थे। उन्होंने अपने जीवन के नौ वर्ष चीन में (५२७-५३६ ई०) ओयांग के निकट साम्रोलिन बौद्ध-बिहार में बिताये थे। उन्हें कोई अधिक लोकप्रियता नहीं मिली, बल्कि एक 'शून्य-दर्शी ब्राह्मण' होने की प्रसिद्धि मिली थी। बोधिधम के समय में महायान बौद्ध मत बाह्य-आधारों पर झुक रहा था। जब सम्राट लियांगवूती ने जो नानकिंग में रहते थे, बोधिधर्म को बताया कि उन्होंने बौद्धधर्म की उन्नति के लिए और सामान्य जनता में उसकी जड़ मजबूती से जमाने के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई हैं और साहित्यिक कार्य की प्रेरणा दी है, तो बोधिधर्म ने उत्तर दिया: "यह सब बाहिरी बातें हैं जिनसे कोई लाभ नहीं। सचमुच महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् चीजें वह हैं जो शान्त चिन्तन और मनन से प्राप्त होने वाले ज्ञान और अन्तर्शुद्धि से प्राप्त होती हैं।" परम तत्त्व वर्णनातीत है। जब विमल कीर्ति ने एक बोधि-सत्त्व द्वारा व्यक्त किये गये अद्वैत सिद्धान्त के सम्बन्ध में मंजुश्री से पूछा तो मंजुश्री ने उत्तर दिया: "जैसा कुछ मैं इसे समझता हूँ इस सिद्धान्त की दृष्टि तब होती है जब मनुष्य समस्त पदार्थों को अभिव्यक्ति, और उपपत्ति के समस्त स्वरूपों से बाहर और परे तथा

ज्ञान और तर्क से ऊपर मानता है। यह मेरी धारणा है। क्या मैं आप से पूछ सकता हूँ कि आप इससे क्या समझते हैं?" विमलकीर्ति मौन रहे। मौन ही उपयुक्त रहस्यात्मक उत्तर है। बुद्ध को जो नवीन अन्तर-दृष्टि बोधि वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई, उसे उन्होंने अपने शिष्यों को देने का प्रयत्न किया। बोधिधर्म ने उपदेश दिया था कि तात्कालिक अन्तर्दृष्टि की अनुभूति वही है जिसे मनुष्य को अन्तर्ध्यान और एकाग्रता के साधनों से प्राप्त करना चाहिए। बोधिधर्म महायान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वह मनुष्य के हृदय में दिवृत होने वाली एक प्रक्रिया का बर्णन है। वे यह स्पष्ट करते हैं कि रहस्यवादी मन: सृष्टि के पीछे विश्वात्म-सत्य छिपे रहते हैं। यह आध्यात्मिक सत्य शास्त्रों की आप्तता या लोक प्रचलित उपासना पर आधारित या उनसे सीमित नहीं हैं। स्वर्ग का राज्य मनुष्य के हृदय में है। अमिताभ के स्वर्ग की आकर्षक कल्पना अथवा बुद्धों और बोधि-सत्त्वों की पौराणिक गाथाओं को बोधिधर्म कोई महत्त्व नहीं देते। बुद्ध की प्राप्ति मूर्तियों या शास्त्रों में नहीं बल्कि मनुष्य के हृदय में करनी है। मूर्ति पूजा को उन्होंने बराया है और पौरोहित्य कला की बुराइयों की भर्त्सना की है।

चीनी जनता में वैराग्य या तापसवाद पर और संसार के प्रति घृणा भावना पर अविश्वास की स्पष्ट प्रवृत्ति होते हुए भी हमेशा एक ऐसा सम्प्रदाय रहा है जिसे जीवन का सुख तापस-जीवन में ही मिला है। उन अनेक लोगों को बौद्धधर्म में ही जीवन के सुअवसर प्राप्त हुए जो चिन्तन के आनन्द को ही आत्मा का सच्चा जीवन मानते थे। सम्यक्-समाधि, ज्ञान, शान्ति और आनन्द की अपनी विशेषताओं के साथ अष्ट-विध मार्ग का लक्ष्य है। बोधिधर्म ने चिन्तन के अभ्यास को प्रोत्साहन दिया, यह अभ्यास वह अनुशासन है जिसके द्वारा हम विचार का नियंत्रण करते हैं

और मन या मस्तिष्क को अन्य सब पदार्थों से हटा कर एक विशिष्ट पदार्थ या तत्त्व पर केन्द्रित करते हैं। चिन्तन के द्वारा हमें मानसिक शान्ति और नवस्फूर्ति प्राप्त होती है। धर्म का तात्त्विक लक्ष्य है अनाद्यनन्त सत्य का ज्ञान, उस सत्य का जो नित्य स्फुटोन्मुख है पर कभी भी परिस्फुटित नहीं होता। शास्त्र भी तभी महत्त्वपूर्ण हैं जब वे सत्य की अनुभूति-सिद्धि की ओर ले जायें। प्रकृति के अध्ययन से हम सत्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

जो प्रवचन बोधिधर्म द्वारा सम्राट् वू-ती के दरबार में किया गया बताया जाता है उसमें उन्होंने अपने उपदेशों का सुन्दर सारांश दिया है।

"हृदय बुद्ध है। उसके बाहर कोई सत्सत्ता नहीं है। विचार से भिन्न सब असत् है। मस्तिष्क या मन और हृदय से अलग न कोई कारण है न कोई कार्य; निर्वाण स्वयं हृदय की एक दशा है। स्वयं अपने भीतर बुद्धत्व के स्वरूप का दर्शन करो, यह बोध करो कि तुम बुद्ध हो और पाप नहीं कर सकते। न कुछ अच्छा है न बुरा, न अच्छाई है न बुराई, बल्कि केवल हृदय है और वही बुद्ध है और अपाप है।.........केवल एक पाप है—अपने बुद्धत्व की उपेक्षा करना।.........यही अज्ञान है जो संसार-चक्र को चलाता है; ज्ञान-ज्योति ही है जो कर्म की शक्ति को नष्ट कर देती है। जो प्रबुद्ध है वह न पाप कर सकता है और न पुनर्जन्म ले सकता है। ओ मानव-हृदय, इतने विशाल कि संसार का आलिंगन कर सको, इतने लघु कि सुई की नोक भी तुम्हें छू न सके—तुम्ही बुद्ध हो। चीन के लिए यही मेरा सन्देश है।"[१]

---

[१] श्री सान्डर्स : Epochs of Buddhist History में उल्लिखत (१९२४) पृष्ठ १३८।

बोधिधर्म के उपदेश ने अनेक बौद्ध शाखाओं का एक व्यापक सम्प्रदाय में संगम करा दिया। चिन्तन पर उनके आग्रह ने जहां एक ओर उनके अनेक अनुयायियों को ज्ञान-ज्योति और गहन शान्ति उपलब्ध की वहीं दूसरी ओर उसने एक निश्चेष्ट निरानन्द धार्मिकता को भी जन्म दिया जिसका परिणाम प्रायः मानवता के कल्याण-जनक संकल्प-मूलक कार्यों में नहीं हुआ।

तियेन ताई (Tien Tai) मत के प्रधान प्रतिनिधि हैं श्री प्रथम ची। वे छठीं शताब्दी के उत्तरार्ध में थे, अपना अधिकांश जीवन चेकियांग प्रान्त में बिताया जहाँ सन् ५९७ ई० में उनकी मृत्यु हुई। यही तियेन ताई पर्वतों पर, जहाँ विहारिक जीवन का बहुत सबल विकास हो चुका था, उन्होंने अपने सम्प्रदाय की नींव डाली और चार हज़ार से भी अधिक श्रमणों को अपनी परिपाटी में दीक्षित किया। श्री प्रथम ची का प्रधान सिद्धान्त है बुद्ध के विविध वाक्यों को उनके जीवन के विभिन्न कालों से सम्बन्धित करके उनके बीच के विभेदों का मेल बैठाना।

१. प्रथम काल विभाग है ज्ञान-प्राप्ति के बाद बुद्ध के जीवन के तीन सप्ताह। बोधि-सत्त्वों के सम्बन्ध की उनकी शिक्षायें इसी काल की हैं।

२. जब बुद्ध ने यह देखा कि सामान्य लोग उनके उपदेशों को नहीं समझ पाते, तो उन्होंने चार सत्य निर्धारित किये और यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार व्यक्ति अर्हत की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। इन बारह वर्षों की अवधि के उपदेश हीनयान-शास्त्रों में अभिव्यक्त हुए।

३. जब उनके शिष्यों ने यह समझा कि वही पूर्ण-सत्य है तो बुद्ध ने उनकी भूल का सुधार किया और समझाया कि अभी कुछ और अधिक है। उन्हें केवल साधु ही नहीं बनना होगा बल्कि संसार के

परित्राण में भी भाग लेना होगा। महायान-शास्त्र इन आठों वर्षों की अवधि के उपदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

४. जब लोगों के मस्तिष्क में हीनयान और महायान के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भ्रम और सन्देह फैला, तब बुद्ध ने स्पष्ट किया कि महायान् की विचार-स्थिति तक पहुँचने के लिए हीनयान् उपक्रम-स्थिति है। यह काम उन्होंने अगले २२ वर्षों में किया और महा-प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र जैसा शास्त्र इस अवधि के उनके आदेशों का विशिष्ट प्रतिनिधि है।

५. जब बुद्ध ७२ वर्ष की परिपक्व अवस्था में पहुँचें तब उन्होंने इस महान् सिद्धान्त का उपदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है, कि इसी उद्देश्य के लिए वह इस धरती पर आये थे और इस सार्वजनीन मुक्ति का उपदेश देने के लिए ही उन्होंने जन्म का बन्धन स्वीकार किया था। इस अवधि के उनके उपदेश सद्धर्म पुण्डरीक में मिलते हैं, जो तियेन ताई का प्रधान शास्त्र है। आगे चलकर परिनिर्वाण सूत्र और सुखावती-व्यूह-सूत्र को भी इसी अवधि का मान लिया गया।

इस प्रवीण वर्गीकरण ने विचार और आचार की विविधता के लिए स्थान बनाया है और उससे सहनशीलता की भावना का विकास होता है। इससे अमिताभ की अनन्त करुणा भी लक्षित होती है कि उन्होंने संत्रस्त मानवता के लिए विविध मार्गों की अनुमति दी।

इस सम्प्रदाय में इस दृष्टिकोण को अस्वीकार किया गया है कि केवल चिन्तन ही पर्याप्त है; और यह माना गया है कि यद्यपि सब जीवों में बुद्ध-वृत्ति की स्थिति है फिर भी, भूलों को दूर करने और सत्-विचारों की प्रतिष्ठा करने के लिए निर्देशन आवश्यक है। यह मत अपेक्षाकृत

रूप से अधिक सार्वलौकिक था और इसमें साहित्य, कर्मकाण्ड और चिन्तनजन्य आह्लाद को भी स्थान मिला। प्रथम ची इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि परम-सत्य के दृष्टिकोण से समस्त दृष्य-जगत असत् है, यद्यपि व्यावहारिक कामों के लिए वह सच है। दृश्य-जगत का अस्तित्व है भी, नहीं भी है। प्रथम ची बुद्ध के स्वरूप को एक आस्तिक दृष्टिकोण से देखते हैं। परम सत्ता का वर्णन वह इतने आत्म-कृत रूप में नहीं करते कि "यह सभी शब्द सापेक्ष हैं: ऐसे शब्द हैं जो हमारी मानव अनुभूति से सीमित हैं।" बुद्धत्व परम-सत्य मात्र नहीं है। बल्कि वह सतत् कर्तृत्व है जो निरन्तर भूत-कल्याण-रत है। आगे चल कर इस तियेन-ताई-सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पृथक् रूप समाप्त हो गया और वह ऐन्द्रजालिक-सूत्रों, विधियों और अमिदा या अमिताभ की उपासना में घुल-मिल गया।

मंत्रयान् अथवा तंत्रयान् सम्प्रदाय का आविर्भाव पहले-पहल आठवीं शताब्दी में हुआ था। वह तिब्बत के बौद्ध-धर्म का सगोत्रीय है। इस सम्प्रदाय के प्रथम चीनी प्रतिष्ठाता माने जानेवाले श्री वज्र बोधि इसे सन् ७२० ई० के लगभग भारत से चीन लाये थे। उनके उत्तराधिकारी श्री अमोघवज्र ने मृतकों के प्रति धार्मिक-समाजों का प्रचार किया। यह अमोघवज्र भी एक भारतीय ही थे। अपने दार्शनिक पक्ष में यह तंत्रयान एक प्रतीकात्मक विश्व-देवतावाद है जो एक परम आत्मा को एक उद्भव-शृंखला में अभिव्यक्त या आविर्भूत होता हुआ मानता है; पर अपने प्रचलित रूप में यह अनेक देववादी और जादू टोने तथा इन्द्रजाल में विश्वास करनेवाला है। इस मत के प्रधान देवता हैं वैरोचन जो अमिताभ के स्थान पर माने जाते हैं। धर्म-काया अथवा भूत-तथता का प्रतिनिधित्व महावैरोचन करते हैं। इस

सम्प्रदाय में उनकी मुक्ति का वचन दिया जाता है जो कुछ विशिष्ट सूत्रों और आचारों को स्वीकार करते हैं। इस मत में अलौकिक और लौकिक सिद्धान्तों में विभेद किया गया है। अलौकिक दर्शन का प्रवीण ज्ञाता जीवित बुद्ध बन जाता है, उसे पूर्ण अन्तरस्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

वैरोचन समग्र विश्व है और उसके दो पक्ष हैं—पदार्थ-पक्ष—गर्भ धातु और अक्षर-पक्ष—वज्र धातु; और इन दोनों को मिलाकर धर्म-धातु रूप बनता है। वैरोचन के शरीर के विविध रूपों को प्रतीकात्मक रूप में अनेकवृत्तों से बनी आकृतियों द्वारा प्रगट किया जाता है। चूंकि यह विश्व विचार-मात्र है, इसलिए विचार अत्यन्त बलवती शक्तियाँ हैं। बशीकरणों, मोहन-मंत्रों और ऐन्द्रजालिक सूत्रों का प्रयोग प्रधानतः पाया जाता है।

चीन के बौद्ध-धर्म ने मंत्रयान के इन विश्वासों को आठवीं शती के उत्तर काल के लगभग स्वीकार कर लिया। अंत्येष्टि-समारोह चीन के धर्म के एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं और आत्मा के भविष्य या भाग्य का नियंत्रण करनेवाले कर्मकाण्ड बहुत आवश्यक हो जाते हैं। मृतकों के प्रति होनेवाले समाज जो चीन के बौद्धों के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं बहुतेरे अन्धविश्वासों के साथ घुल-मिल गये हैं। जन्म और मृत्यु के अविरल-चक्र में छः श्रेणियाँ बिभक्त की गई हैं। सर्वोच्च श्रेणी है स्वर्ग, जिसमें सत् आत्माओं का निवास रहता है। जब तक वह परम तत्त्व की प्राप्ति न कर लें तब तक वे काल-चक्र से बाहर नहीं हो पाते। बोधि-सत्त्व इसी श्रेणी में रहते हैं। दूसरी श्रेणी मनुष्यों की है जहाँ व्यक्तियों का भाग्य-निर्धारण करने में कर्म का विधान काम करता है। यहाँ फिर अनेक श्रेणियाँ हैं। चीन के लोगों को अपने

पूर्वजों पर श्रद्धा रखने की शिक्षा मिली है और बौद्धों ने इस राष्ट्रीय विशेषता को सन्तुष्ट किया। यह विधियाँ और कर्मकाण्ड आजकल बहुत कष्टकर और प्रयत्न-साध्य हो गये हैं; जिन्हें अधिक सरल और गम्भीर बनाने की आवश्यकता है।

लामाओं का या लामायी बौद्ध धर्म

लामावाद का विकास तिब्बत में आठवीं शताब्दी में हुआ। उस समय भारत में मंत्रयान् सम्प्रदाय प्रधान था, और जब यह सम्प्रदाय तिब्बत पहुँचा तब वह स्थानीय भूत-पूजा में घुल-मिल गया। श्री पद्म-संभव तंत्रवादी बौद्ध-धर्म के सर्वाधिक यशस्वी व्याख्याता हैं। उन्होंने ल्हासा से लगभग ३० मील की दूरी पर साम्ये का बौद्ध-मठ स्थापित किया और शान्तरक्षित उस बिहार के मठाध्यक्ष बने। इसी समय से लामाओं की परम्परा प्रारम्भ होती है। मानव-जाति के सहायकों को क्रुद्ध पिशाचों के रूप में चित्रित किया गया है, यह क्रुद्धरूप पाप-पुंज को भयभीत करने के लिए है; इसका परिणाम यह हुआ है कि लामा-मन्दिर पिशाच-पूजा के आलय मालूम पड़ते हैं।

तिब्बत के लामा-धर्म की प्रधान विशेषतायें यह हैं: (१) धारणी और मण्डलाओं का प्रयोग—दैत्यों पर विजय पाने और अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति के लिए; (२) यह विश्वास कि इन विधियों और साधनों से एक प्रवीण साधक न केवल किसी देवता का आवाहन कर सकता है बल्कि स्वयं ही देवता का रूप धारण कर सकता है—देवता बन सकता है; (३) अमिताभ की उपासना और उनके स्वर्ग में विश्वास; (४) मृतात्माओं के हेतु विधिकृत्यों का अनुष्ठान और बलिदान, यद्यपि

जीव बलि नहीं दी जाती; और (५) मृत और जीवित गुरुओं की पूजा।

ग्यारहवीं शती में अतिसा और अन्य उपदेशकों की मंत्रणा से एक नया विकास हुआ जिसका नाम रक्खा गया काल-चक्र। इसके अनुसार एक आदि बुद्ध हैं जिनसे अन्य बुद्धों की उत्पत्ति हुई है। यह सिद्धान्त माना गया कि विश्व की सृष्टि के लिए परम सत्ता ने पुरुष और प्रकृति या नारी-रूप धारण किया; प्रधान बुद्धों और बोधि-सत्त्वों को, इसी सिद्धान्त के अनुसार, भार्यायें प्राप्त हुई। इस नवीन उपदेश के सामान्य परिणाम असन्तोषजनक हुए।

लामायी बौद्ध धर्म का प्रचार उत्तरी चीन में मंगोल राजवंश के समय (१२८०—१३६८) में हुआ। बौद्ध धर्म के लामायी और अन्य रूपों को पृथक् नहीं माना गया। लामायी बौद्धमत के अनुयायियों ने पुरोहित या पुजारी वर्ग के लिए अविवाहित जीवन पर अधिक जोर नहीं दिया और हम देखते हैं कि ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गई जो पुरोहित या श्रमण का काम करते थे लेकिन शादी करते थे और मठों में नहीं रहते थे। जबसे मंगोल शासकों के अधीन चीन में लामायी बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ--तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में--तब से तिब्बत के बौद्ध श्रमण और स्थविर चीनी बौद्ध धर्म के मामलों में प्रधान भाग लेते रहे हैं।[1]

[1] चिनयुइन पर्वतों पर के बौद्ध बिहार में, जिसके अध्यक्ष स्थविर ताई सू थे, मैंने एक उत्कृष्ट उपदेशक को देखा जो युवक श्रवणों को तिब्बती बौद्ध धर्म में दीक्षित कर रहा था। चुंगकिंग में मुझे एक तिब्बत से आये हुए 'जीवित बुद्ध' से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिन्होंने मुझ से कहा कि वह "विश्व शान्ति के लिए प्रार्थना करने में अपना समय बिता रहे थे।" राजनीतिक कारणों से भी तिब्बती बौद्ध धर्म को चीन में प्रोत्साहित किया जा रहा है।

बौद्ध धर्म तथा अन्य धर्म

सम्राट् वानली (१५७३—१६२०) ने कहा था कि कन्फ़्यूशियन धर्म और बौद्ध धर्म एक पक्षी के दो पंखों की भाँति हैं। एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता है। कन्फ़्यूशियस ने एक अच्छे नागरिक के जीवन के लिए हमें कुछ सूत्र दिये हैं। उन्होंने अपने युग के प्रचलित विचारों को स्वीकार कर लिया है और स्वर्ग की पूजा तथा पूर्वजों और आत्माओं के प्रति बलिदान का समर्थन करते हैं, लेकिन उनकी कोई निश्चित अध्यात्म विद्या नहीं है और वे स्वर्ग की पूजा के साथ नैतिक विधान का कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ते। धर्म के भावना-मूलक पक्षों की कन्फ़्यूशियस ने उपेक्षा की है। और इन्हीं क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का महत्त्व है।

ताओवाद चीन का दूसरा धर्म है जिससे कन्फ़्यूशियस ने नैतिक तत्त्वों को ग्रहण किया है। भौतिक अन्धविश्वासों के असंगत हास्यास्पद वृत्तों को स्वीकार करके ताओवाद ने अपना कुछ पतन कर लिया; ऐसे वृत्त जैसे यह विश्वास कि एक विशिष्ट रसायन पीकर पार्थिव अमरता प्राप्त की जा सकती है। बाद में आगे चलकर अपने सिद्धान्त में अन्तः संगति और अनुशासन प्राप्त करने के लिए ताओवाद ने बौद्ध धर्म से बहुत कुछ अंगीकार कर लिया—उसके देवत्रय, पवित्र ग्रन्थ और मठ-परम्परायें। सर चार्ल्स ईलियट कहते हैं: "मानवता के भावात्मक और आध्यात्मिक पक्षों को प्रभावित करनेवाले सिद्धान्त के रूप में ताओवाद यदि कन्फ़्यूशियस के धर्म से श्रेष्ठ था तो बौद्ध धर्म से हीन था।"[1]

---

[1] Hinduism and Buddhism, Vol. III (1921), P. 229.

एक अंग्रेज ईसाई धर्म-प्रचारक जिनका विश्वास है कि चीन के तीनों धर्म 'एक साथ, एक आध्यात्मिक नियोग के रूप में, एक निम्न कोटि के हैं--अन्धविश्वासों से आवृत्त, और एक प्रबुद्ध आध्यात्मिकता के विकास के लिए अपर्याप्त हैं', कहते हैं कि "चीन के धर्मों में बौद्ध धर्म सर्वाधिक प्रभावपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व रहा।[1] चीनी जनता की आत्मा पर बौद्ध-धर्म द्वारा डाले गये गम्भीर प्रभाव की चर्चा करते हुए नार्वे के एक ईसाई धर्म प्रचारक लिखते हैं: "विचार, दृष्टि-कोण, भविष्य के प्रति आशा, उत्सर्ग और निवृत्ति-भावना, अनिर्वचनीय पीड़ा और दुःख, ज्ञान-ज्योति और शान्ति की गम्भीर कामना, भूतमात्र के प्रति अवर्णनीय सहानुभूति और जीव मात्र की मुक्ति में शान्त स्थिर विश्वास—सब पर गहरी, बहुत गहरी रेखायें पड़ी हैं। यदि कोई चीन को समझना चाहता है तो उसे बौद्ध धर्म के आलोक में ही चीन को देखना होगा।"[2]

समकालीन स्थिति

चीन के लोग सौन्दर्य प्रेमी हैं। समूचा देश एक विशाल कला-मन्दिर है। चीनी लोग अपने सभी पदार्थों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं--अपने नगरों और मन्दिरों को, अपने खेतों और उपवनों को, अपनी मेजों और कुर्सियों को और अपने छोटे-छोटे चाय के प्यालों,

---

[1] Soothill: The Three Religions of China (1929) P. 254.
[2] Reichelt: Truth and Tradition in Buddhism, E. T. (1927) P. 311.

भोजन के समय प्रयोग में आनेवाली सजाइयों को। गरीब से गरीब नौकर भी जिन बर्तनों में भोजन करता है उनका एक अपना सौन्दर्य होता है। सौन्दर्य तो उनके जीवन की रचना में सम्मिलित है। उनके देश के दृश्यों में वह रंग बनकर छाया हुआ है। अनेक बौद्ध-मठ और बिहार सुन्दर स्थानों पर बने हुए हैं--चित्र-सुन्दर पर्वत-शिखरों पर, तलहटियों में सरिताओं के किनारे। इन पवित्र स्थानों में हम संसार के कोलाहल और व्यापार से दूर प्रकृति की शान्ति और उसके सौन्दर्य के लोक में जा पहुँचते हैं। यह मठ विभिन्न आकारों के होते हैं और इनमें चिन्तन-शालायें, अतिथि-शालायें, पुस्तकालय और कमलों से विभूषित सरोवर होते हैं। इन बौद्ध मन्दिरों में दिखाई देने वाली मूर्तियाँ यह हैं: (१) स्वर्गीय बुद्ध, जिनमें गौतम बुद्ध, अमिताभ (भैषज्य-गुरू, विश्व-चिकित्सक), वैरोचन, लोशन और दीपांकर सम्मिलित हैं (२) बोधि-सत्त्व, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है कुआनयिन, मैत्रेय, मंजुश्री, और सामन्तभद्र। (३) अर्हत जिनमें बुद्ध के सर्व प्रथम शिष्य और बोधिधर्म जैसे अन्य साधु सम्मिलित हैं। (४) रक्षक इष्ट-कुल-देव गण।

त्रिमूर्ति-धारणा का अर्थ विविध रूपों में समझा गया है। दैनिक कर्मकाण्डों में प्रयुक्त होनेवाले प्रसिद्ध तीन वाक्य महायान् सम्प्रदाय के तीन काया वाले सिद्धान्त पर आधारित हैं।—

"मैं धर्म की निर्मल सुन्दर काया, वैरोचन, म अपनी शरण लेता हूँ।

मैं दिव्य धर्म-प्रकाशक पूर्ण काया, लोशन, म अपनी शरण लेता हूँ।

"मैं उन शाक्य मुनि में अपनी शरण खोजता हूँ जो अगणित युगों में धरती पर सशरीर आविर्भूत होते हैं।"

जहाँ कुछ मूर्तियों में अब भी सौन्दर्य का सहज-बोध और उद्दीपन है, वहाँ दूसरी ओर बहुतों में ऐसी बात नहीं है। उत्ताल तरंगों के कोलाहल से ऊपर एक सीधे सौन्दर्यमय कमल पर आसीन कुआनयिन की प्रतिमा आध्यात्मिक संकेतों, उद्देश्यों और अभिव्यंजनाओं से भरी हुई है। वह पवित्र मुखमण्डल आश्चर्यजनक रूप से करुणा-कोमल और फिर भी अत्यन्त गम्भीर, अपने निमीलित लोचनों से अनन्त के साक्षात में लीन, दिव्य-शान्ति का चित्र है। शिथिल विनत वाम बाहु में अनन्त प्रेम और करुणा है; उठी हुई एक दूसरे से मिली उँगलियों वाले ऊपर उठे दक्षिण बाहु में--जैसे वह उपदेश के समय ऊपर उठता है-- एक अवर्णनीय पवित्रता है। कमल पर मृदु आसीन चरणों की पद्मासन मुद्रा, अनन्त के साक्षात में लीन निश्चल आदर्श-पूत मुखमण्डल, सब का उद्देश्य हमारे हृदयों पर पवित्रता के सौन्दर्य का प्रभाव डालना है। यह मूर्तियां अगोचर-आध्यात्मिक-सत्ता के दृश्य प्रतीक हैं। विज्ञ बौद्ध इस बात पर विश्वास नहीं करते कि मूर्ति ईश्वर है और अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़े हुए लोगों को मूर्तियों और मन्दिरों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे जानते हैं कि व्यक्ति का अपना हृदय ही मन्दिर है।

प्रचलित ब्रह्मवादी विश्वासों को सरलता और उत्सुकता पूर्वक स्वीकार कर लेने से ऐसे देवताओं और सन्तों की संख्या बढ़ती गई है जिन्हें सामान्य जनता अज्ञान-वश पूजती है। अनन्त की धारणा धूमिल हो गई है और जनता की दृष्टि कुंठित। चीन के बौद्ध-धर्म में निम्नलिखित बातों को विशेष गौरव दिया गया है: प्रार्थना में दिव्य शक्ति के साथ संगम, ईश्वर का आनन्दातिरेक, उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रकृति में अंशभागी होने और उसकी पवित्रता के

भागीदार होने की कामना। घण्टियों और ढोलों का संगीत और मंत्रों का उच्चारण लोगों को धर्म के अस्तित्व, आध्यात्मिक जीवन के तत्व का बोध कराते हैं। मन्दिरों में जाकर और उस पवित्र संगीत को सुनकर कोई भी व्यक्ति, वह कितना ही नीच और पतित क्यों न हो, दिव्य ज्योति की एक झाँकी पा सकता है, उच्चतर जीवन की एक अनुभूति प्राप्त कर सकता है।

संसार के अन्य भागों की भाँति यहाँ भी धर्म में एक यांत्रिक पुनरुक्ति और आन्तरिक पवित्रता से हीन नियम-प्रेरित वाह्य उपासना में पतित हो जाने की प्रवृत्ति है। वाह्य पवित्रता और निम्नकोटि की नैतिकता दोनों प्रायः साथ दिखाई देती हैं। ऐसे लघु और चपल-बुद्धि व्यक्ति हैं जो इस आशा में पाप करते हैं कि अमिताभ अपनी अनन्त करुणा से उनका परित्राण कर लेंगे। बौद्ध बिहारों में अधिकांश वे अनाथ बच्चे भरती होते हैं जिनकी कोई रखवाली करने वाला नहीं होता। स्वभावतः बौद्ध पुजारियों या श्रमणों की बुद्धि, उनका धर्म और उनकी शक्ति स्वस्थ-समर्थ नहीं होती। जीवन की शिथिलता या अनाचार बौद्ध पुरोहितों की ही कोई विशेषता नहीं है। कुछ ऐसे विद्वान् और धर्म-निष्ठ श्रमण सर्वदा रहते हैं जो जनता की दृष्टि से प्रायः ओझल रहते हैं। वे अपने आश्रमों में अलग विरत शान्त जीवन बिताते हैं और संसार उनके सम्बन्ध में बहुत कम जान पाता है। सांसारिक ज्ञान में प्रवीण श्रमण या स्थविर जो महत्त्वपूर्ण पदों तक अपना रास्ता बना लेते हैं, सर्वोत्तम कोटि के नहीं हैं, और फिर भी उन्होंने सामान्य जनता को सत्यनिष्ठा, चरित्र और उदारता की प्राप्ति में सहायता दी है। उन्होंने बड़े कठिन समय में अपने संगठनों का कार्य भार संभाला और संचालित किया है जबकि बौद्धों के अनेक पवित्र स्थानों को स्कूलों

में बदल दिया गया है और अन्य रूपों में भी सरकार ने उन पर कब्जा कर लिया है। अतिथियों को भोजन देने के बौद्ध आतिथ्य का ऐसा प्रयोग किया जाता है कि बौद्ध-विहार व्यापारी, यात्रियों और दर्शकों के लिए होटलों का काम देते हैं। ऐसी भावना लोगों में है कि प्रोटेस्टेन्ट ईसाई-धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों पर सरकारी अधिकारियों की रोष-दृष्टि रहती है।

चीन के बौद्ध-धर्म को अविलम्ब सुधार की आवश्यकता है। यदि ब्रह्मवाद में जनता के विश्वास को नष्ट करना है तो शिक्षा उसका सर्वोत्तम साधन है। जनता को प्रकृति और उसके विधानों के सत्य-ज्ञान की शिक्षा देनी होगी। केवल इसी साधन से भूतों के भय और ब्रह्मवाद के विश्वास को दूर किया जा सकता है। जादू-टोने और अन्धविश्वास के आश्चर्यजनक रूपों पर जनता की श्रद्धा है। विद्वानों के बृद्धिवाद और उनकी नैतिकता ने जनसमूह को नहीं छू पाया। भारत की भाँति, शिक्षित व्यक्ति अन्धविश्वास-पूर्ण कर्मकाण्डों की सार्वजनिक निन्दा-करते हैं, उनका मखौल उड़ाते हैं लेकिन फिर भी स्वयं उनको करते हैं। धर्म के स्वरूप में सुधार करने के लिए ऐतिहासिक बुद्ध की शरण जाना आवश्यक है। उनका कहना है कि यदि हमें दुःख-मय जीवन से बचना है तो पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति और निस्वार्थ कर्म के अभ्यास से ही यह सम्भव हो सकता है। मैं देखता हूँ कि तिब्बती बौद्ध-धर्म पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है, किन्तु चीन के बौद्धों को गौतम बुद्ध की शरण जाना होगा और उनके चिन्तन और विश्व-कल्याण की कर्म-पद्धति को अपनाना होगा। व्यावहारिक बौद्ध धर्म को प्रभावपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है और कुछ बौद्ध नेतागण इस आवश्यकता को समझते हैं। चीन में बौद्ध धर्म के सबसे प्रधान

प्रतिनिधि हैं मठाध्यक्ष ताईसू, जो विद्वान् हैं, धार्मिक हैं और तेजस्वी हैं। वह बौद्ध परिषद् के अध्यक्ष हैं। जो कुछ घण्टे उनके साथ उनके मठ में बिताने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ उनमें उन्होंने सुधार की गम्भीर आवश्यकता और बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठापक के प्रेरणात्मक आदर्श तक वापस जाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में अपनी भावनाओं से मुझे परिचित कराया। नवम्बर सन् १९२५ में टोकियो में हुई चीनी और जापानी बौद्धों की एक समाज में उन्होंने महायान बौद्ध-धर्म को पुनरुज्जीवित करने की अपनी योजना की रूपरेखा स्पष्ट की थी। 'सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिए कि एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध विश्व-विद्यालय की स्थापना करें जिसमें बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए लोगों को शिक्षित किया जाय। इस उपर्युक्त संस्था में दो विभाग होने चाहिए; पहला विभाग विद्यार्थियों को भाषायें, विविध विज्ञान और दर्शन जैसे उदार विषयों की शिक्षा देने के लिए और दूसरा बौद्ध सूत्रों और धार्मिक अनुशासनों, बौद्ध धर्म के अलौकिक उपदेशों आदि की शिक्षा देने के लिए। श्रमणों या स्थविरों को शिक्षित करने के अतिरिक्त हमें जनता को विद्यालयों, अपने प्रकाशनों, भाषणों और नाटकों आदि से बौद्ध सिद्धान्तों के उपदेश देने चाहिए। यह उपदेश बाजारों में, सड़कों पर, रेलों और नावों पर, सिपाहियों के शिविरों, अस्पतालों, फैक्ट्रियों और बन्दी-गृहों में दिये जाने चाहिए। हमारा तात्कालिक उद्देश्य यह होना चाहिए कि जनता को अपने साथी मनुष्यों को प्यार करना, देश के कानून का पालन करना, दैनिक धर्म-कृत्यों को तत्परता के साथ पूरा करना, प्रार्थनाओं और बुद्ध के नामों का जपना आदि-आदि गुण सिखायें जायँ। हमारी सामाजिक सेवायें यह होनी चाहिए, (१) अकाल में सहायता का काम, प्राकृतिक विपत्तियों की रोक थाम

और युद्ध में घायल हुए लोगों की औपचारिक सहायता; (२) फैक्ट्रियाँ स्थापित करके और अभी उपयोग में न आने वाली धरती को काम में लाकर उद्योगों की वृद्धि करना; (३) वृद्धों, अपंगुओं और असहाय विधवाओं जैसे दीन असहाय लोगों की सहायता करना; और (४) पुल और सड़कें बनाना और सड़कों पर रोशनी का प्रबन्ध करना, यात्रियों के लिए निःशुल्क नौका-सेवा तथा अन्य जन-उपयोग के ऐसे ही कार्य।"[१] यदि इनकी यह योजना सफल हो जाती है तो चीन में धर्म के प्रति सन्देह-वृत्ति और भौतिकता की बाढ़ रुक जायगी। यदि चीन के शासक अपने पूर्व-शासकों की परम्पराओं को अपनायें और सभी धर्मों का आदर करें और यदि बौद्ध-मन्दिर और विहार अपने आप को आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बना लें तो चीन में एक महान् जागरण हो जायगा।

---

१ The Young East, I. 181-82.

८

युद्ध और विश्व-सुरक्षा

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि राजनीतिक क्षेत्र के प्रख्यात नेताओं और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निविष्टमन विद्यार्थियों से मिलने का यह सुयोग मुझे मिला। मैं यहाँ विश्व-व्यवस्था और सुरक्षा की कोई सरल योजना प्रस्तुत करने नहीं आया बल्कि मैं आपको इस जटिल और विषम विश्व के सम्बन्ध में अपनी कुछ आशाओं-आशंकाओं का भागीदार बनाने आया हूँ और आपसे यह सीखने आया हूँ कि मनुष्यों और राष्ट्रों के बीच किस प्रकार हम कुछ अधिक मानव-न्याय और सभ्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। मानव-जाति के लिए यह कठिन परीक्षा के दिन हैं, आत्म-परीक्षण के दिन—हृदय टटोलने के दिन हैं। प्रसव पीड़ा और चित्कारों के साथ यह धरती आज काँपती और उसांसे लेती मृत्यु और विनाश को जन्म दे रही है, सम्भव है जीवन और सृष्टि को भी जन्म मिल रहा हो। बुद्ध ने हमें विश्वास दिलाया है कि धर्म का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। यह भयावह दुःस्वप्न सा संसार सर्वदा नहीं चल सकता। परिवर्तन होगा।

८ दिसम्बर सन् १९४३ को कैरो शहर में बोलते हुए फ़ील्ड मार्शल स्मट्स ने कहा था कि इस वर्ष का बड़ा दिन युद्ध का अन्तिम

बड़ा दिन होगा और यह भी कहा था "अब फिर कभी यह आपत्तियाँ नहीं आनी चाहिए जिन्होंने युग-युग से मानव सभ्यता को बरबाद किया है। मैं आशा करता हूँ कि मानव जाति द्वारा झेली गई यह महान यातनायें व्यर्थ नहीं जायगीं।" यही आशा समूचे संसार की है; और फिर भी भविष्य के सम्बन्ध में बहुत बड़ी शंकायें हैं।

हम से कहा जाता है कि मित्र-राष्ट्रों का प्रधान उद्देश्य है शत्रु को कुचल देना और सबके लिए मानव-स्वाधीनता की प्रतिष्ठा करना। स्वाधीनता और न्याय-भावना का प्रेम ही युद्ध-रत लोगों को, रूस, ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका, चीन, भारत, स्वतंत्र चेक, स्वतंत्र पोल और स्वतंत्र फ़्रांसीसी लोगों को प्रेरणा दे रहा है। किन्तु हमारा पिछला अनुभव और वर्तमान लक्षण आशा को प्रेरणा नहीं देते। निर्णायक वर्ष वे नहीं होंगे जब हम विजय के अभियान में आगे बढ़ेगें बल्कि निर्णायक वर्ष होंगे वे जो विजय के बाद आयेगे। पिछला युद्ध संसार को प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित रखने के उद्देश्य से लड़ा गया था और उसका वास्तविक परिणाम हुआ था तानाशाही का विकास। जो कुछ होता है वह हमारे लक्ष्य से बिल्कुल भिन्न होता है। हमारे उद्देश्यों का मेल हमारी सिद्धियों से नहीं बैठता। जिन्होंने राजनीतिज्ञों के वायदों पर विश्वास किया था, जिन्होंने एक नवीन और सुन्दरतर संसार के सपने देखे थे, जिन माताओं ने अपने बच्चों की बलि दी थी और जो सैनिक घर वापस लौटे थे—उनमें कुछ तो श्रान्त-क्लान्त चीथड़ों में लिपटे भिखारियों की तरह सड़कों पर दियासलाइयां बेचते हुए—उन सबके साथ विश्वासघात किया गया, सबको धोखा दिया गया और मानव जाति के दुःख का दांव लगाने वाले जुआरी फिर शक्ति दबोच बैठे और फिर वही पुराना खेल शुरू कि य जिसमें आज हमारा समूचा अस्तित्त्व, हमारा सुख, हमारा भविष्य फिर

संकट में है। परस्पर दोषारोपण व्यर्थ है, किन्तु यदि विजय और शान्ति दोनों को ही हमें गवां नहीं बैठना है तो अतीत को सूक्ष्म दृष्टि से देखना होगा, उससे सबक सीखना होगा।

दो युद्धों के बीच (१९१९-१९३९)

१९१९ और १९२० में आशा की जाती थी और लोग यह सोचते थे कि युद्ध से श्रान्त और परिखिन्न राष्ट्र शान्ति स्थापना के लिए समझौते के इच्छुक ही होंगे। राष्ट्रपति विलसन की चौदह-सूत्री योजना और लीग आफ नेशन्स--राष्ट्रसंघ स्थापित करने के उनके प्रस्तावों का हार्दिक स्वागत किया गया और लोगों ने सोचा कि अब शान्ति, जो सब राष्ट्रों और लोगों की आवश्यकता और आकांक्षा है, स्थापित होने जा रही है। ४ दिसम्बर सन् १९१७ को प्रेसीडेन्ट विलसन ने अमरीका की सीनेट और हाउस के संयुक्त अधिवेशन में भाषण करते हुए कहा—"जब जर्मनी की जनता को ऐसे प्रतिनिधि प्राप्त हो जायेंगे जिनके शब्दों पर हम विश्वास कर सकें और जब वे प्रतिनिधि अपनी जनता की ओर से राष्ट्रों के सर्व-सम्मत न्याय को स्वीकार करने के लिए तैय्यार हो जायेंगे कि संसार के जीवन के संविद और विधान के आधार क्या हों—तब हम शान्ति का पूरा-पूरा मूल्य प्रसन्नता के साथ, बिना किसी हिच-किचाहट के अदा करने को तैयार होंगे। हम जानते हैं कि वह मूल्य क्या होगा। वह मूल्य होगा पूर्ण और निष्पक्ष न्याय—न्याय जो हर स्थान पर और हर राष्ट्र के साथ किया जायगा अन्तिम समझौता या निर्णय हमारे शत्रुओं और मित्रों पर एक समान लागू होगा।" उसी भाषण में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था—"हम जर्मन-साम्राज्य के साथ कोई

अन्याय नहीं करना चाहते, उसके आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। इन दोनों में से किसी एक भी बात को हम नितान्त अन्यायपूर्ण समझते हैं; जिस सिद्धान्त को हमने अपने जीवन का लक्ष्य घोषित किया है और एक राष्ट्र के रूप में जिसे हम अपने समूचे जीवन में सर्वाधिक पवित्र मानते हैं, उसके नितान्त विरुद्ध यह बात होगी।" जर्मन लोगों की आशायें राष्ट्रपति विल्सन के ८ जनवरी सन् १९१८ के भाषण से भी पुष्ट हुई जिसमें उन्होंने अपनी चौदह शर्तें रक्खीं जिनको जर्मन लोगों ने शान्ति-समझौते की बातों का आधार स्वीकार कर लिया। लेकिन विजय के बाद जो अवधि बीती है उसने शान्ति का वातारण नहीं उत्पन्न किया। उसने विभेदों और संघर्षों के कारणों को बढ़ाया ही है।

पिछले युद्ध के अन्त में जर्मनी को दुर्बल बना दिया गया, उसका अपमान किया गया। विश्व-युद्ध का समूचा उत्तरदायित्व और पाप अंगीकार करने के लिए उसे विवश किया गया। जर्मन नौसेना को सागर के अतल गर्भमें डुबो दिया गया और उसकी सेना को घटा कर एक करोड़ आदमियों की पुलिस बना दिया गया। सार्वजनिक निःशस्त्रीकरण का वायदा करके उसे निस्शस्त्र बना दिया गया, यद्यपि योरोप के किसी भी बड़े राष्ट्र का निःशस्त्रीकरण का तनिक भी मंशा न था। क्षति-पूर्ति के लिए अत्यन्त असंगत आर्थिक माँगे उस पर लादी गई जिनसे न केवल युद्ध में भाग लेने वाली पीढ़ी बल्कि आगे आने वाली दो-दो पीढ़ियाँ तक दास और गुलाम बना दी गई। सर ऐरिकगेडेस के शब्दों में "हम ने जर्मनी को तब तक चूसा जब तक वह चीत्कार न कर उठा। जर्मनी को छोटे-छोटे राष्ट्रों के जाल से घेर दिया गया, राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में सार प्रान्त को एक स्वतंत्र राज्य बना दिया गया,

राईनलैण्ड पर अधिकार कर लिया गया और रूर पर आक्रमण किया गया। यह सब इस सिद्धान्त पर किया गया कि शक्ति ही सत्य है, न्याय है। जर्मनी को योरोप के बीच में एक संत्रस्त भयानक जन्तु के रूप में छोड़ दिया गया जो विक्षत, बुभुक्ष, क्रुद्ध और बद्ध होने के कारण और भी अधिक भयानक हो उठा था। कोई भी आत्म-सम्मान पूर्ण राष्ट्र इस प्रकार का व्यवहार किये जाने पर निराशा के गम्भीर गर्त में गिर जाता और हिटलर तथा नाजीवाद की विनाशकारी शक्ति को अपना लेता जिसकी घोषणा है कि "वर्तमान अवस्था से कोई भी दूसरी अवस्था अच्छी है।"

जर्मनी के साथ हुई इस बुरी संधि के बावजूद भी लोगों को आशा थी कि राष्ट्र-संघ, जो वार्साई की सन्धि के एक अँग रूप में प्रतिष्ठित हुआ था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का उत्थान करेगा और राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को प्रबोधन, पारस्परिक बातचीत व समझौता तथा मध्यस्थता के उपायों से हल करने का प्रोत्साहन देगा; लेकिन यह आशायें पूरी नहीं हुईं। जब राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई तब उस पर ब्रिटेन और फ़्रांस का नियंत्रण था। संयुक्त-राष्ट्र अमेरीका जर्मनी और रूस उससे बाहर थे और मुसोलिनी का इटली यद्यपि राष्ट्र-संघ का एक सदस्य था फिर भी उसे संघ के सिद्धान्तों पर विश्वास न था और वह शान्ति को घृणा की दृष्टि से देखता था जिसकी स्थापना का प्रयत्न संघ कर रहा था। यद्यपि अन्त में राष्ट्र-संघ में ५० से अधिक राष्ट्र सदस्य हो गये फिर भी उसकी शक्ति ब्रिटेन और फ़्रांस के ही हाथों में रही। बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हो गया है कि दोनों की एक सामान्य नीति नहीं थी। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन भंग हो गया क्योंकि फ़्रांस, जो युद्ध के समय से एक राष्ट्रीय भयोद्वेग की स्थिति में था, इस बात पर

डटा था कि सुरक्षा को निःशस्त्रीकरण पर वरण्यता मिलनी चाहिए और ब्रिटेन यह मानता था कि बिना निस्शस्त्रीकरण के सुरक्षा असम्भव है। अनेक संधियाँ की गईं जिनमें राष्ट्र-संघ से परामर्श तक नहीं किया गया, उससे कोई सम्पर्क नहीं रक्खा गया, जैसे सन् १९३५ में इंगलैंड और जर्मनी का नौ-सैनिक समझौता और रूस, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड के साथ फ़्रांस की संधियाँ।

यदि जर्मनी में सरल, स्वस्थ, सबल और अच्छे नवयुवकों तथा नवयुवतियों को घातक आज्ञाकारिता की मोहक दीक्षा दी जाती है, यदि उन्हें अपने योरोपीय पड़ोसियों को कुचलने और उन्हें अपने अधीन करने की अन्ध-प्रेरणा दी जाती है तो निस्सन्देह, यह सब अनुचित है। लेकिन यह सब समझ में न आने वाली बात किसी प्रकार नहीं कही जा सकती। धुरी-युग के पहले फ़्रांस और ब्रिटेन ने जर्मन समस्या का संचालन बहुत बुरे ढंग से किया। श्री ब्रूस लॉक हार्ट से श्री स्ट्रेसमैन ने जो शिकायत पश्चिमी राष्ट्रों—विशेष कर ब्रिटेन—के विरुद्ध की थी उससे सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने कहा कि अस्सी प्रति शत जर्मन जनता को वह अपनी नीति के पक्ष में ले आये हैं। अपने देश को उन्होंने राष्ट्र-संघ में सम्मिलित करा दिया है। लोकार्नो संधि-पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिये हैं। वह देते गये, देते गये, देते गये जब तक उनके देशवासी उनके विरुद्ध न हो गये। "अगर आपने मेरे साथ एक भी रियायत की होती तो मैं अपने देश-वासियों को अपने साथ ले चलता। मैं आज भी ऐसा कर सकता था। लेकिन आपने कुछ नहीं दिया और जो कुछ नगण्य रियायतें आपने की वह भी समय बीत जाने पर बहुत देर बाद। खैर अब तो कुछ शेष रहा नहीं, अकेले पाशव शक्ति को छोड़ कर। भविष्य तो नयी पीढ़ी के हाथ में है, जर्मनी के उन

युवकों के हाथ में है जो शान्ति और नवीन योरोप के निर्माण के लिए जीते जा सकते थे; हमने दोनों को ही खो दिया है। यही मेरा दुरन्त है और यही आप का पाप।"[1]

जहाँ तक इटली का सम्बन्ध है, यद्यपि अबीसिनिया ने सन् १९३५ के प्रारम्भ में ही इटली के रवैय्ये के विरुद्ध राष्ट्र-संघ में शिकायत भेज दी थी फिर भी अप्रैल (१९३५) में होने वाले स्ट्रेसा-सम्मेलन में ब्रिटेन, फ़्रांस और इटली के प्रधान-मंत्री और विदेश-मंत्री योरोप की परिस्थिति और जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए जब इकट्ठे हुए तो बड़ी सावधानी से उन्होंने अबीसिनियां के मसलों को छुआ तक नहीं; शायद इस आधार पर कि अबीसिनिया ने राष्ट्र संघ से अपील की है और इसलिए उसे उसी के निर्णय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। मुसोलिनी जब स्ट्रेसा से रवाना हुए तो इस विश्वास के साथ कि अबीसीनिया में वह अपना मन चाहा कर सकते हैं और फ़्रांस अथवा ब्रिटेन से डरने की कोई ख़ास बात नहीं है।[2] सितम्बर सन् १९३५ के राष्ट्र-संघ के सम्मेलन में, जब कि इटली अबीसिनिया पर आक्रमण करने वाला ही था, ब्रिटेन के विदेश मंत्री सर सैमुएल होर ने कहा था—"यह

---

[1] New Statesman and Nation, March 29, 1941.

[2] श्री एमरी जैसे विशिष्ट अंग्रेज़ ने सन् १९३६ में यह अर्थ-गर्भित शब्द लिखे थे: "इतिहास में मुसोलिनी का दावा राजनीति-शास्त्र के मूल तत्वों के मौलिक बिचारक के रूप में होगा, एक महान् देशभक्त के रूप में, एक चतुर दूरदर्शी राष्ट्र-निर्माता और एक प्रशंसनीय प्रशासक के रूप में होगा··· ··उन्होंने इटली को एक विश्वास-पूर्ण कर्मोद्योग, सफलता के आनन्द, उत्सुक सहयोग और परिश्रमी पुरुषत्व के एक नवीन स्तर पर उठा दिया है।"—The Forward View.

राष्ट्र-संघ और इसके साथ मेरा देश संघ-समझौते को उसकी पूर्णता में सुरक्षित रखने के पक्ष में है और विशेष कर अकारण किये जाने वाले आक्रमण के दृढ़ और सामूहिक प्रतिरोध के हम पक्ष में हैं।" कुछ ही महीनों बाद सम्राट् की सरकार की ओर से बोलते हुए सर जान साइमन ने हाउस आफ़ कामन्स में कहा—"मैं इस बात के लिए तैयार नहीं हूँ कि अबीसिनिया की स्वतंत्रता के लिए होने वाले समुद्री युद्ध में मैं अपना एक भी जहाज़ डूबता हुआ देखूं, भले ही वह युद्ध सफल ही क्यों न हो।" शस्त्रों से फिर सुसज्जित होते हुए जर्मनी के खतरे से फ़्रांस स्वभावतः भयभीत था और अबीसिनिया की रक्षा के लिए इटली से झगड़ा मोल लेने को तैयार न था। यद्यपि राष्ट्र-संघ ने मुसोलिनी को आक्रामक घोषित किया और अक्तूबर सन् १९३६ में उसके विरुद्ध आदेश भी जारी किये फिर भी फ़्रांस ने होर-लावाल प्रस्तावों का समर्थन किया। इस अशान्ति-काल में हिटलर ने स्थिति से लाभ उठाया और राइनलैण्ड पर फिर से अधिकार कर लिया। इसी समय अबीसिनिया जीत लिया गया, इटली के विरुद्ध आदेश वापस ले लिये गये, राष्ट्र-संघ पर से विश्वास समाप्त हो गया। संसार के छोटे और दलित राष्ट्रों को गम्भीर निरुत्साह हुआ। इस घटना पर लार्ड सेसिल की टिप्पणी यह है "आक्रमण के विरुद्ध होने वाली कार्रवाई का प्रारम्भ से इतना शक्तिहीन होना और बाद में उसका ठप्प हो जाना इस कारण नहीं था कि इटली के विरुद्ध होने वाली राष्ट्र-संघ की कार्यवाही से हमारे (ब्रिटेन) या फ़्रांस के लिए कोई घातक परिणामों का तर्क-संगत भय था। यह तो उस दृष्टिकोण का परिणाम था जो उस समय फ़्रांस में बहुत जोर-शोर से और ब्रिटेन में निश्चित रूप से, यद्यपि प्रगट रूप से नहीं, स्वीकृत था;

यह कि जब तक स्वयं अपने राष्ट्रीय भू-प्रदेश या राष्ट्रीय व्यापार के किसी अंशको खतरा न हो तब तक युद्ध को, आवश्यकता पड़ने पर, शक्ति से भी रोकने का दायित्व अपना सर्वोच्च स्वार्थ और कर्तव्य मान बैठना एक आदर्शवादी मूर्खता है और ऐसा कोई काम किया नहीं जाना चाहिए।"[1]

जहाँ तक तीसरे धुरी-राष्ट्र जापान का सम्बन्ध है, १६३१ से ही वह समझने लगा था कि उसकी महत्त्वाकांक्षाओं में हस्तक्षेप करने की शक्ति राष्ट्र-संघ में नहीं है। यह तो केवल एक ऐसा यंत्र था जिसे विजयी राष्ट्रों ने अपनी शक्ति-परक गुटबन्दी की सुकरता के लिए स्थापित किया था। इटली ने सन् १६२३ में उसका उल्लंघन किया, कारफू पर बमबाजी की और अल्बानिया में कुछ इटालियन अधिकारियों की हत्या के बदले यूनान से क्षति-पूर्ति की माँग की। जब १८ सितम्बर सन् १६३१ को जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो २१ सितम्बर १६३१ को चीन ने राष्ट्र-संघ की संविदा की ग्यारहवीं धारा के अनुसार राष्ट्र-संघ में अपील की। जापान ने तर्क किया कि मंचूरिया की समस्या का हल चीन और जापान के बीच की बात है और दूसरों से उसका मतलब नहीं। समस्या को एक मध्यस्थ के हाथ सौंप देने का चीनी प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। २५ जनवरी सन् १६३२ को चीन ने फिर नई अपील की, यह अपील दसवीं धारा के अन्तर्गत की गई जिसके अनुसार सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक-अखण्डता की प्रत्याभूति दी गई है, और पन्द्रहवीं धारा के अन्तर्गत भी, जो बारहवीं धारा से अधिक सबल और सटीक है क्योंकि इसके विषयों की पूर्ति न होने पर धारा

[1] A Great Experiment, p. 271.

सोलह के आदेश लागू हो जाते हैं। जब चीन के प्रतिनिधि ने राष्ट्र-संघ से अपील की तो अमेरिका के पर-राष्ट्र सचिव श्री स्टिम्सन ने राष्ट्र-संघ द्वारा कार्यवाही किये जाने का समर्थन करने का वचन दिया। जनवरी सन् १९३२ में संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने घोषणा की कि वह ऐसी किसी व्यवस्था को मान्यता नहीं देगा जो शक्ति के द्वारा दूसरों पर लादी गई हो।[1] ब्रिटेन के विदेश-मंत्रालय ने एक दूसरा ही राग अलापा। जनेवा में पत्रकारों के बीच इंगलैण्ड को नीति स्पष्ट करते हुए सर जान साइमन ने घोषणा की—"जापान को फैलने की—विस्तार की आवश्यकता है, जापान आज वही कर रहा है जो ग्रेट ब्रिटेन ने अतीत में किया था, और राष्ट्र-संघ की संविदा में कठिनाई यह है कि उसमें इतिहास की ऐसी गतिशील शक्तियों को यथेष्ट सुविधा नहीं दी गई जैसी शक्ति हमको भारत में ले गई थी और आज जापान को मंचूरिया में ले जा रही है।"[2] जापान स्थित अंग्रेजी राजदूत ने कहा था—"मंचूरिया में जापानियों ने जो कार्यवाइयाँ की उसके लिए उन्हें बहुत अधिक उत्तेजना दी गई थी। उन्होंने रूसियों को भगाया था और इस प्रकार अपने लिए अधिकार प्राप्त कर लिये थे; और जिस ढंग से चीनी लोग उनके अधिकारों की प्रतिष्ठा समाप्त करते जा रहे थे उससे उनकी

---

[1] जब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से कहा गया कि वह कोई ऐसी कार्यवाही करे जो जापानी आक्रमण को रोक दे तो उन्होंने लिखा—"हमारी जनता के अधिकांश के लिए मंचूरिया धरती का एक अज्ञात भाग है और वे नहीं समझ पाते कि उस भाग में होनेवाले विवाद से उनका क्या सम्बन्ध है।" ब्रिटेन के एक स्कूली छात्र ने कहा था कि चीन की राजधानी जापान है।

[2] Vigilantes: Inquest on Peace (1935) p. 34.

शान्ति और सहनशीलता समाप्त हो गई।"[१] लायोनल कार्टिस जैसे तटस्थ निरीक्षक भी रूस के काल्पनिक भय से मार्ग-भ्रष्ट हो गये और लिखा—"पूर्व में जो विभीषिका हमें संत्रस्त किये है वह जापान का भय नहीं है बल्कि चीन का भय है।[२] अधिक-से-अधिक राष्ट्र-संघ की समिति जो कर सकी वह यह था कि उसने जापान को यह स्पष्ट रूप से बता दिया (१६—२—१९३२) कि राष्ट्र-संघ के सदस्य अपने एक सदस्य राष्ट्र की प्रादेशिक अखण्डता पर राष्ट्र-संघ की संविदा द्वारा निर्धारित दायित्वों की अवहेलना करते हुए जो भी अतिक्रमण किये जायँगे उनको मान्यता नहीं देंगे। मार्च सन् १९३२ में राष्ट्र-संघ की असेम्बली या आम-सभा ने एक अमान्यता का प्रस्ताव पास किया जिसका अर्थ था संसार के सभ्य राष्ट्रों द्वारा जापान के आक्रमण की नैतिक आधार पर निन्दा करना। लेकिन उस प्रस्ताव ने आक्रमणकारी को आक्रमण के फलों से वंचित नहीं किया। १९३१ में युद्ध चाहे जितना कष्टदायक होता लेकिन प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों को उस समय १९३९ की अपेक्षा कम तैयार या अधिक पूर्व-व्यस्त स्थिति में न पाता। यदि भविष्य की महान्तर आपदाओं का निवारण करना है तो वर्तमान छोटी-छोटी बुराइयों का सामना करना ही होगा। यदि धरती के एक भाग पर हम स्वेच्छाचार वर्दाश्त करते हैं तो दूसरे भाग पर उससे भी अधिक अत्याचार उत्पन्न होगा। जापान ने राष्ट्र-संघ से इस्तीफा दे दिया और मंचूरिया की विजय-यात्रा में आगे बढ़ते हुए उसने जेहोल और मंगोलिया के दो भीतरी प्रान्तों—चाहार और सुइयुआन—पर भी

---

१ Curtis: The Capital Question of China (1932) p. 25.
२ Ibid p. 299.

अधिकार कर लिया। राष्ट्र-संघ की अकर्मण्यता और संघ का नियंत्रण करनेवाली बड़ी-बड़ी शक्तियों की उदासीनता तथा नाज़ी जर्मनी के उत्थान और अबीसिनिया पर किये गये इटली के आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्र-संघ के प्रतिबन्धादेशों की शोचनीय असफलता से उत्साहित होकर जापान ने जुलाई सन् १९३७ में चीन पर फिर से आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। २२ मई सन् १९३९ को चीन के प्रतिनिधि डाक्टर वेलिंग्टन-कू ने चीन को प्रभावपूर्ण सहायता देने की अपील की—आर्थिक सहायता, और जापान को युद्ध-सामाग्री न देने, शरणार्थियों को सहायता देने तथा राष्ट्र-संघ की शपथों को पूरा करने की प्रार्थना की। पर अपने फ़्रान्सीसी सहयोगी जार्ज बॉनेट के साथ लार्ड हैलीफैक्स ने राष्ट्र-संघ की सामूहिक सहायता संगठित करने का एक अनुपम सुयोग खो दिया।[1] यद्यपि अमेरिका और ब्रिटेन दोनों ने ही १९२२ में वाशिंगटन में होने

[1] उसी दिन जनेवा में "आक्रामक-विरोधी मोर्चे को पूर्वीय देशों तक विस्तृत करने के चीनी प्रस्ताव को ब्रिटेन और फ़्रांस ने अपने निषेधाधिकार से रद्द कर दिया। सोवियत, न्यूज़ीलैण्ड और बोलीविया के प्रतिनिधियों ने डाक्टर कू की प्रार्थनाओं का समर्थन किया किन्तु ब्रिटेन व फ़्रांस के विदेश मंत्रियों ने बार-बार—जब कभी सोवियत विदेश मंत्री ने उनसे अपनी असहमति प्रगट की—इन प्रार्थनाओं का डटकर विरोध किया। डाक्टर कू के तर्कों का विरोध लार्ड हेलीफैक्स और श्री बानेट ने किया। उनके विरोध ने इस योजना को वस्तुतः समाप्त कर दिया। एम मैस्की ने कहा कि सारी दुनियाँ में यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि आक्रमण के विरुद्ध दृढ़ प्रतिरोध एक ऐसा युद्ध है जो एक व्यापक युद्ध का निवारण करता है। "यह सिद्धान्त चीन पर भी पूरी तरह से लागू होता है," उन्होंने कहा था।

वाली नवराष्ट्र-संधि[1] पर हस्ताक्षर किये थे, फिर भी दोनों ने जापान के अकारण और नीच आक्रमण को रोकने के लिए कोई भी क़दम उठाने से इन्कार कर दिया। दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन ने जापान की यह माँग स्वीकार कर ली कि बर्मारोड से जो कुछ युद्ध-सामग्री चीन पहुँचती थी उसका वहाँ पहुँचना बन्द कर दिया जाय, यद्यपि यह बन्दी तीन ही महीने के लिए जुलाई से अक्टूबर १९४० तक रही। ब्रिटेन ने यह कार्यवाही नवराष्ट्र-संधि का उल्लंघन करके की और जनेवा में अपने दिये हुए इस गम्भीर बचन को भंग किया कि "वह ऐसा कोई काम न करेगा जिससे चीन की प्रतिरोध-शक्ति में किसी प्रकार की कमी आये।" और फिर भी मिस्टर चर्चिल ने बर्मा-रोड की इस बन्दी को एक शान्तिपूर्ण कार्य्य कहकर उसका समर्थन किया जिसका उद्देश्य चीन-जापान-युद्ध का अन्त "समझौते के द्वारा न कि युद्ध या युद्ध की धमकी के द्वारा" समीप लाना था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ होता कि चीन का एक प्रभाव-पूर्ण अवरोध हो जाता जिसका परिणाम होता समर्पण। आज तो अंग्रेज भी परमात्मा को धन्यवाद देते हैं कि उनकी यह आशायें पूरी न हुई। महान् शक्तियों ने तोषक-नीति का अनुगमन किया और सब प्रकार के हथियार, तेल, रबड़, खण्ड-लौह, कच्चा लोहा और अल्मोनियम जापान के हाथ बेंचा। यह तो ७ दिसम्बर सन् १९४१ में हुआ पर्ल बन्दरगाह पर जापान का हमला था जिसने संयुक्त-राष्ट्र अमरीका और ग्रेट-ब्रिटेन को चीन के साथ ला खड़ा किया जो लगभग साढ़े चार वर्ष से सभ्यता और विश्व-व्यवस्था का युद्ध लड़ता आ रहा था। तभी

---

[1] वाशिंगटन सम्मेलन में सम्मिलित राष्ट्रों ने बचन दिया था कि वे 'चीन की प्रभुसत्ता, उसकी प्रादेशिक और प्रशासकीय अखण्डता' स्वीकार करेंगे।

तो संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की एकान्त तटस्थता की गहरी परम्परा भंग हुई। जैसे ही जापान ने ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर हमला किया वैसे ही चीन ने एक दूरदर्शी स्पष्ट-दृष्टि से धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

फासीवादी राष्ट्रों से सहायता और समर्थन पानेवाले विद्रोहियों के विरुद्ध स्पेन की वैधानिक सरकार की रक्षा करने में राष्ट्रसंघ असमर्थ रहा। जब चेकोस्लोवाकिया में संकट उत्पन्न हुआ तब मिस्टर चेम्बरलेन ने पूर्ण सदुद्देश्य से काम किया। वह शान्ति-प्रेमी थे और शान्ति-प्रेमी होना कोई बुरी बात नहीं है। ब्रिटेन की तैयारियों की कमी वह जानते थे। उन्होंने लार्ड रन्सोमैन को भेजा कि वह जाकर चेक लोगों और जर्मन लोगों के झगड़े का निपटारा करने की कोशिश करें, उन्होंने चेक लोगों को यह प्रबोध दिया कि वह सुडटन प्रदेश जर्मनी को दे देना स्वीकार कर लें और दूसरे प्रदेशों में छोटे-छोटे सैन्य-शिविरों का निर्माण कर लें। चेक लोगों ने 'ब्रिटेन और फ्रांस के दुर्निवार दबाव' के कारण यह स्वीकार कर लिया। इस प्रकार म्यूनिक में प्रतिष्ठा बेचकर समय खरीदा गया। इस घटना का दुःखद भाग तो वह सनकीपन है जिसके साथ मिस्टर नेवाइल चेम्बरलेन ने २७ सितम्बर सन् १९३८ के अपने रेडियो भाषण में कहा था—"एक शक्तिमान पड़ोसी के मुकाबिले में आ पड़े एक छोटे राष्ट्र के साथ हम सहानुभूति चाहे जितनी दिखायें पर केवल उसी के लिए हम हर परिस्थिति में समूचे ब्रिटिश सम्राज्य को युद्ध मे फँसा देने का काम नहीं कर सकते। यदि हमें लड़ना ही है तो इससे बड़े प्रश्नों को लेकर लड़ना चाहिए।" राष्ट्र-संघ के सुविचारित न्याय से जिन शक्तियों को 'आक्रामक' घोषित किया जा चुका था उनके प्रति तोषक-नीति राजनीतिक कारणों

की अपेक्षा सैनिक आवश्यकताओं से अधिक प्रेरित थी। सरकारों को यह निश्चित करना होता है कि वे सफलतापूर्वक युद्ध संचालित कर सकती हैं या नहीं, और यदि नहीं कर सकतीं तो उन्हें समझौते करने होते हैं और सामरिक आवश्यकताओं के साथ राजनीतिक आदर्शों का मेल बैठाना होता है। लेकिन आदर्शों को एकदम त्याग देना बुद्धिमानी नहीं है।

म्यूनिक समझौते के समय रूस की उपेक्षा की गई और कुछ ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया गया कि पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी के साथ कामिन्टर्न-विरोधी समझौता करने की सोच रहे हैं। श्री नेवाइल हेन्डर्सन के संस्मरणों—'दि फेल्योर आफ ए मिशन'––से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह धारणा बिल्कुल काल्पनिक नहीं थी। तोषण एक ऐसा खेल है जिसे दो पक्ष खेल सकते हैं। सो सोवियत रूस जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण-संधि करने में सफल हो गया। ऐसा उसने अपनी सुरक्षा के हित में किया। वह समय चाहता था, अपनी लाल फौज को तैयार करने के लिए और जर्मन शत्रु से मुकाबला करने के लिए। रूस जब तक वह और अच्छी स्थिति म न आ जाय तब तक युद्ध टालना चाहता था।

वे 'बड़े-बड़े प्रश्न' क्या हैं जो ब्रिटेन द्वारा सशस्त्र हस्तक्षेप को उचित सिद्ध करते हैं? मिस्टर चेम्बरलेन का उत्तर है––"यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाय कि कोई राष्ट्र अपनी शक्ति से भयभीत करके संसार पर अधिकार जमाने का संकल्प कर बैठा है तो मैं समझूंगा कि उसका प्रतिरोध किया जाना चाहिए।" दूसरे शब्दों में यदि संसार में ब्रिटेन की शक्ति को चुनौती दी जाती है तो वह इस चुनौती देनेवाली शक्ति के विरुद्ध अपनी पूरी ताकत लगा देगा। 'सभ्यता के लिए युद्ध' 'छोटे

राष्ट्रों की सुरक्षा' और शक्ति-संतुलन की भी सारी बकवाद स्वार्थ और आत्मरक्षण के सक्रिय उद्देश्य को छिपाने का एक झूठा आवरण मात्र है। हम लड़ेंगे केवल अपने शत्रुओं को कुचलने के लिए और अपने गर्व को शान्त करने के लिए। यह राष्ट्रीय अहमन्यता का सिद्धान्त ग्रेट ब्रिटेन की कोई अपनी विशेषता नहीं है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका इस युद्ध में तभी सम्मिलित हुआ जब पर्ल बन्दरगाह पर हमला हो गया। वह संसार की शान्ति-रक्षा के लिए युद्ध में नहीं सम्मिलित हुआ, वह सम्मिलित इसलिए हुआ कि उसके भू-प्रदेश पर प्रत्यक्ष आक्रमण हुआ, उसके स्वार्थों के लिए संकट उत्पन्न हुआ और उसके गर्व को चोट लगी।

जिन लाखों व्यक्तियों ने स्वेच्छापूर्वक यातनायें और पीड़ायें सहना स्वीकार कर लिया था और जिन्होंने अपने प्राण भी दे दिये थे—इस विश्वास में कि यह संसार प्रजातंत्र और मानव-भावना के लिए सुरक्षित हो जायगा, उन सबकी आशायें दोनों युद्धों के बीच की अवधि में चूर-चूर हो गई और हम शान्ति खो बैठे। आग की लपटों से तो हम निकल आये किन्तु धुयें में बिलीन हो गये। इन २० वर्षों से हमने यह सबक सीखा है कि सभी देशों में राष्ट्रीय देश-भक्ति की भावना बड़ी सबल और गहरी है और विश्व-साम्य या ऐक्य की भावना दुर्बल और मन्द। अपने प्रधान सदस्यों, ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस के साथ राष्ट्र-संघ ने चीन को जापान की कृपा के भरोसे छोड़ दिया, अबीसीनिया को इटली के लिए बलिदान कर दिया, मुसीबत की घड़ी में चेकोस्लोवाकिया को धोखा दिया और धुरी-राष्ट्रों को शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने में अनवरत सहायता दी।[1] अपनी दृढ़ आस्थाओं के होते हुए भी राष्ट्रसंघ

[1] १५ जनवरी सन् १९४४ के 'नेशन एन्ड न्यू स्टेट्समैन' में सैगीटैरियस ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट के इस सुझाव पर कि भविष्य में राष्ट्रसंघ की

अपने प्रस्तावों और संकल्पों के लागू करने में असमर्थ रहा। यदि उसे प्रभावपूर्ण होना है तो उसकी स्थिति ऐसी होनी ही चाहिए कि सैनिक चुनौतियोंका उत्तर वह सैनिक कार्यवाइयोंसे दे सके। (१) इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ ने प्राचीन औपनिवेशिक साम्राज्यों को नवीन नामों से बनाये रखने की कोशिश की। उसने पूर्व की जातियों और उनके स्वाधीनता-संग्रामों की ओर ध्यान ही नहीं दिया।[1] युद्ध का तात्कालिक उद्देश्य है शत्रु

बैठकों के लिए जेनेवा को न चुना जाय क्योंकि उस शहर पर 'असफलता की छाया' छाई है, निम्नलिखित टिप्पणी लिखी थीं—

'जब बलि के बकरों की आहें—
राष्ट्रों के अभियोग कान में पहुँचे
तब काउंसिल ने जल मँगवाया
आम-सभा ने हाथ धो लिए—दाग़ मिट गया।
मंचूको, स्पेन, कार्फू, अबीसोनिया,
चिलना औ यूनान,
माफ़ न यह बलिदान!—
माफ़ न होंगे!! क्योंकि जानते थे बलि-कर्त्ता
अपना कुत्सित काम और उसका मतलब भी।

[1] "पूर्व में जापान योरूपीय 'प्रजातंत्र' के कुछ चिह्न देख सकता था। ऐसा लगता था कि यह एक विशेषाधिकार है जिसने श्वेतांगों को रंगीन लोगों का मालिक बना रखा है। समृद्ध ईस्ट इंडीज़ में, जिसका आकार जापान से तीन गुना है, कुछ हजार डच लोग छै करोड़ अर्धबुभुक्षु स्थानीय लोगों के श्रम और साधनों के बूते सम्पत्ति पैदा कर रहे थे। इण्डोचीन में (जो जापान से बड़ा है) कुछ हजार फ्रांसीसी वहाँ की जनता से जिसे उन्होंने चीन से अलग कर रखा था विपुल राजस्व चूस रहे थे। जापान ने यह भी देखा कि कुछ हजार अँग्रेज सज्जन बिलोचिस्तान से लेकर दक्षिणी सागर तक के विशाल भू-प्रदेशों पर उपनिवेशों सा शासन करते हुए सम्पति लूट रहे थे।

को पराजित करना, लेकिन जब तक हमारे पास एक प्रेरणादायक लक्ष्य --भविष्य का चित्र न हो जिसके लिए हम युद्ध कर रहे हैं, तब तक हम शत्रु को कुचल नहीं सकते; युद्ध जीत नहीं सकते। यह कहने से काम नहीं चलेगा--"आओ शत्रु को कुचल दें और शेष सारी बातें दैव या भाग्य के ऊपर छोड़ दें;" क्योंकि यह तो उस सामान्य-मानव को धोखा देना होगा, जिसकी वीरता और सहनशक्ति, जिसकी यातना और मृत्यु के बूते विजय प्राप्त की जा रही है। विजेताओं को प्रेरणा देनेवाला एक सामान्य उद्देश्य होना ही चाहिए। सर्वत्र स्त्री-पुरुष सभी बलिदान की भावना से भरे हैं और तात्विक परिवर्तनों के लिए तैयार हैं। यही विश्वास उन्हें जीवन का बल दे रहा है कि विश्व का नव-निर्माण होगा, कि मानव इतिहास में महान्-क्रान्ति होगी और सामान्य व्यक्ति को भय और दीनता से मुक्ति मिलेगी। यही आशा आज धरती के इस छोर से उस छोर तक छाई हुई है, और मित्र-राष्ट्रों के नेताओं के वक्तव्यों से इस आशा को नवीन बल और दृढ़ता मिलती जाती है। हमारे सामने अतलान्तक घोषणापत्र है, राष्ट्रपति रूजवेल्ट की चार स्वाधीनताओं की घोषणा है और सोवियत की २५वीं वर्षगाँठ के अवसर पर की गई मार्शल स्तालिन की घोषणा है--"जातीय बहिष्कार-वृत्ति का उन्मूलन, राष्ट्रों की समानता और उनकी प्रादेशिक अखण्डता, गुलाम बनाई गई

और सबसे अधिक जापान के शासकों ने यह देखा कि पूर्व का वैभव और उसकी सम्पति हिंसा और शक्ति के बल छीनी गई और शक्ति के बल पर ही उसपर आधिपत्य जमा हुआ है--पर वह एक शक्तिशाली और निशंक शक्ति की चोटों के लिए अगम्य तो नहीं था।"--Scorched Earth, by Edgar Snow (1941) p. 364.

जातियों की मुक्ति और उनकी प्रभु-सत्ता की पुनः प्रतिष्ठा, प्रत्येक राष्ट्र का यह अधिकार कि वह अपने मसलों की व्यवस्था अपनी इच्छाओं के अनुकूल करें, क्षति-ग्रस्त राष्ट्रों को आर्थिक सहायता और अपनी भौतिक कल्याण-सिद्धि में उनको योगदान, प्रजातंत्रीय स्वाधीनताओं की पुनः प्रतिष्ठा, हिटलरी शासन का विनाश।" हावर्ड विश्वविद्यालय में ६ सितम्बर १९४३ को भाषण देते हुए श्री चर्चिल ने कहा था—"हमें आगे बढ़ते ही जाना चाहिए। दो में एक ही रहेगा या तो विश्व-व्यापी अराजकता और या फिर विश्व-व्यवस्था। अत्याचार हमारा शत्रु है वह चाहे जिस छद्मवेश में हो, चाहे जो जाल बिछाये। वह चाहे जो भाषा बोले, वह चाहे वाह्य हो या आन्तरिक, हमें हर क्षण सावधान रहना चाहिए, हर क्षण सन्नद्ध और सतर्क, हर समय उसका गला दबोचने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।" राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन डी० रूजवेल्ट ने अभी हाल ही में कहा था—"जिस उद्देश्य के लिए हम यह युद्ध लड़े हैं वही यदि खो जाता है तो इन युद्धों का जीतना व्यर्थ है। यदि विजय स्थायी न रहे तो युद्ध का जीतना बेकार है......हम एक ऐसी विजय-प्राप्ति के लिए एक सूत्र में बँधे हुए हैं जो हमें यह प्रत्याभूति दे सके कि हमारी भविष्य की सन्ततियाँ आक्रमण, विनाश, दासता और आकस्मिक मृत्यु के निरन्तर भय से मुक्त रह कर बढ़ सकेंगी और परमात्मा की छाया में अपना जीवन जी सकेगीं।" डाक्टर सनयात सेन के कथन, "क्रान्ति अभी भी सिद्ध नहीं हुई" पर टीका करते हुए महाबलाधिकृत च्यांगकाई शेक ने कहा था—'उत्तर यह है कि क्रान्ति से हमारा अर्थ होता है डाक्टर सनयात सेन द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय क्रांति के तीन मौलिक सिद्धान्तों की प्राप्ति और पूर्ति! यह सिद्धान्त हैं—राष्ट्रीय स्वाधीनता, प्रजातंत्र की क्रमिक और अधिकाधिक सिद्धि

और जन-जीवन की परिस्थितियों का स्तर ऊँचा उठाना।......सब जातियों की राष्ट्रीय स्वाधीनता पर जोर देते हुए डाक्टर सनयात सेन की दृष्टि चीन की समस्या से बहुत ऊपर उठ जाती है और वह पूर्व तथा पश्चिम के सभी राष्ट्रों के लिए समानता की खोज और माँग करते हैं। चीन केवल अपनी स्वाधीनता की लड़ाई नहीं लड़ रहा है बल्कि प्रत्येक दलित जाति की आजादी की लड़ाई लड़ रहा है। हमारे लिए तो अतलान्तक घोषणा-पत्र और राष्ट्रपति रूजवेल्ट की सब राष्ट्रों के लिए चार स्वाधीनताओं की घोषणा हमारे विश्वास के आधार स्तम्भ हैं।......और जब तक हम ईमानदारी के साथ संसार के छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के प्रति राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक न्याय को अपना लक्ष्य नहीं बनाते तब तक हम में से किसी के लिए भी न तो शान्ति होगी और न भविष्य की आशा। स्वयं शोषण का शिकार रहने के कारण चीन के हृदय में एशिया की दलित जातियों के प्रति अपार सहानुभूति है और चीन अनुभव करता है कि इन राष्ट्रों के प्रति उसके उत्तरदायित्व ही हैं--अधिकार नहीं। हम एशिया के नेतृत्व के विचार का प्रत्याख्यान करते हैं क्योंकि 'फ्यूरर-सिद्धान्त' अधिकार और शोषण का ठीक उसी प्रकार समानार्थक रहा है जिस प्रकार "पूर्वीय एशिया सह-समृद्धि-क्षेत्र" का अर्थ रहा है एक काल्पनिक अतिमानवों की जाति जो अधीन जातियों को कुचलती हुई उन पर शासन करे। एशिया में पश्चिमी साम्राज्य को हटाकर पूर्वी साम्राज्यवाद स्थापित करने अथवा अपनी या अन्य किसी की एकान्त तटस्थता चीन का उद्देश्य कभी नहीं रहा। हमारा यह दृढ़ मत है कि बहिष्कार-मूलक संधियों और प्रादेशिक गुट-बन्दियों के संकुचित विचार से हमें आगे बढ़ना ही चाहिए और एक प्रभाव-पूर्ण संगठन संसार की एकता के लिए

स्थापित करना चाहिए। इन संधियों और गुट-बन्दियों से और भी बड़ी और भयानक लड़ाइयाँ होती हैं। जब तक एकान्त तटस्थता और साम्राज्यवाद—वह चाहे जिस रूप का हो—को हटाकर स्वतंत्र राष्ट्रों के एक नवीन अन्योन्याश्रित संसार में सच्चा विश्व-सहयोग नहीं स्थापित किया जाता है तब तक हमारे या आपके लिए स्थायी सुरक्षा न हो सकेगी।"

आज हम एक महान् युद्ध के अन्तिम चरणों में हैं। विजय की ओर बढ़ते हुए भी ऐसा भय लग रहा है कि हमारे मन युद्ध से उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक क्रूरता, संकीर्णता और लक्ष्य की रुक्षता के सामने झुकते जा रहे हैं। हम जानते हैं किस तरह कुछ मित्र-राष्ट्रों ने अपने आपको गुप्त संधियों में फँसा लिया था जब कि उडरो विल्सन गत युद्ध के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक विदग्ध वक्तव्य दे रहे थे। ठीक उसी प्रकार वर्तमान युद्ध में अतलान्तक घोषणापत्र और अन्य घोषणाओं पर हस्ताक्षर करनेवाले असंदिग्ध शब्दों में उन घोषणाओं से अपनी असहमति प्रगट कर रहे हैं।

इंगलैंड के प्रधान मंत्री ने कहा कि "अतलान्तक घोषणा-पत्र के निर्माताओं के मस्तिष्क में प्रधान रूप से योरुप के उन राज्यों और जातियों की प्रभु-सत्ता, स्वशासन और राष्ट्रीय जीवन की पुनः प्रतिष्ठा थी जो नाज़ी आधिपत्य में हैं" और यह कि उस घोषणा-पत्र की-धाराओं या प्रतिज्ञाओं से "भारत, बर्मा अथवा अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्य भागों में होने वाले वैधानिक शासन के विकास के सम्बन्ध में समय-समय पर दिये गये विविध नीति-विषयक वक्तव्यों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता।" इसके साथ यह घोषणा भी जोड़िये: "हमारा मन्शा अपने अधिकारों पर डटे रहने का है। मैं सम्राट्की सरकारका प्रधानमंत्री इसलिए नहीं बना कि

अंग्रेज़ी साम्राज्य के विनाश का अध्यक्ष बनूं।" स्वतंत्र फ़्रांसीसियों के राजनैतिक उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए जनरल डीगाल ने बताया था कि उन उद्देश्यों में "फ़्रांसीसी साम्राज्य की पूर्ण अखंडता की पुनः स्थापना" शामिल है।[1] १९४० में फ़्रांस द्वारा स्वीकार की गई युद्ध-विराम सन्धि में हिटलर ने फ़्रांसीसी साम्राज्य की अखंडता की प्रत्याभूति दी थी। अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्र, जैसे डच, युद्ध के बाद अपनी यथास्थिति की पुनस्थापना की राह जोह रहे हैं। हमारा धूर्त विवेक हमें इस सुखद धारणा में भरमाता है कि एक दूरस्थ जाति पर अधिकार जमाना जिसकी समूची सभ्यता की पद्धति हमारी सभ्यता से भिन्न है अपने एक नज़दीकी पड़ोसी पर—जिसको हम सदियों से जानते आये हैं—अधिकार जमाने से भिन्न है। यदि हम युद्ध-पूर्व की अतीत परिस्थितियों में लौट जाना चाहते हैं, यदि भविष्य के सम्बन्ध में अपने अधिकार में आये राष्ट्रों पर अपना पंजा जमाये रखने की भाषा में सोचते हैं और अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने, घर में अपनी वर्ग-स्थिति और बाहर अपने अधिकारों को क़ायम रखने की कामना रखते हैं, तो यह युद्ध एक पापपूर्ण बर्बादी है, अपव्यय है।

ग्रेट ब्रिटेन इस युद्ध में इस घोषणा के साथ प्रविष्ट हुआ था कि पोलैंड के साथ हुई अपनी सन्धि पर दृढ़ रहना, पोलैंड की अखंडता और स्वतंत्रता की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था। जब जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया तो रूस ने उसके पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया। रूस ने अब पोलैंड को नाज़ी आक्रमणकारियों से मुक्त कर दिया है यद्यपि लन्दन-स्थित पोलैंड की सरकार इस नवीन स्थिति को स्वीकार

---

[1] २४ जून १९४२

नहीं करती। रूस इस बात को स्वीकार करता है कि उसका एक मात्र उद्देश्य यह है कि पोलैंड सशक्त हो, स्वतंत्र हो और उसका मित्र हो। रूस नहीं चाहता कि पोलैंड की पूर्वी सीमा के सम्बन्धमें उसकी नीति में दूसरे राष्ट्र हस्तक्षेप करें ठीक वैसे ही जैसे ग्रेट ब्रिटेन अपने साम्राज्यवादी अधिकारों से सम्बन्ध रखन वाले मामलों में दूसरे राष्ट्रों का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। यदि मित्र-राष्ट्र अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में "वर्तमान उत्तरदायित्वों" की पवित्रता पर जोर देते हैं और ऐसे प्रश्नों को अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता से दूर रखना चाहते हैं जिनकी न्याय्यता सन्देहपूर्ण है, तो निश्चय ही हम लोग समाज के युद्ध-पूर्व वाले ढाचें में वापस चले जायेगें जिसमें औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धायें होंगी और उनके विनाशकारी परिणाम होंगे। सोवियत संघ ने यह व्यवस्था दी है कि उसके अंग-भूत गणराज्य अपनी स्वतंत्र सेनायें और विदेश कार्यालय रखेगें। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते हैं कि इसका उद्देश्य है 'जो भू-प्रदेश १९३८ में सोवियत रूस को प्राप्त नहीं थे उनके अब सोवियत रूस के साथ सम्मिलन की वाह्य-विश्व द्वारा स्वीकृति' का मार्ग स्पष्ट और सुकर बनाना।[1] यदि यह बात सच हो तो विजय प्राप्त होने के पहले ही हम दूसरे युद्ध के बीज बो देगें।[2]

---

[1] Economist, February 5, 1944.

[2] १० अप्रैल सन् १९४४ को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के उपराष्ट्रपति श्री हेनरी वैलेस ने लिखा था: "युद्धोत्तर विश्व में अनिवार्यतः फासीवाद आंग्ल सैक्सनी साम्राज्यवाद की तरफ अविरत गति से बढ़ेगा और अन्ततोगत्त्वा रूस से युद्ध की ओर। अभी से अमेरिकी फासीवादी युद्ध के सम्बन्ध में लिख और बोल रहे हैं। प्रायः बड़े-बड़े व्यवसाय अनजाने फासीवाद को सहायता देते है। बहुत से अंग्रेज व्यापारी

संसार की प्रगतिशील शक्तियों को सन्नद्ध किया जाना चाहिए

एक बहुत बड़ा संकट यह है कि जहाँ युद्ध काल में हम एक नये संसार का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ जैसे ही युद्ध समाप्त होता है वैसे ही पुरानी दुनियाँ की रक्षा करने के लिए जम कर लड़ाई करते हैं। पिछले युद्ध के बाद जब विजय प्राप्त हो गई तब श्री टी० ई० लारेंन्स का भ्रम बुरी तरह दूर हुआ और उन्होंने कहा—"हम लोग उन विचारों में पले जो वाष्प-रूप थे और जो व्यक्त नहीं किये जा सकते थे पर जिनके लिए युद्ध लड़ा जाना था···फिर भी जब हमें सफलता मिली और नवीन विश्व का उदय आया तो बुड्ढे लोग सामने आ गये, हमारी विजय उन्होंने हम से छीन ली और उसे उन्होंने वही पुराना रूप दे दिया जो उनका जाना बूझा था।" यदि युद्ध के इस भयानक अपमान की पुनरावृत्ति से बचना है तो यह आवश्यक है कि हम सतक रहें और निश्चय कर लें कि न्याय-पूर्ण समझौते पर आधारित स्थायी शान्ति के लिए जनता के प्रयत्नों को हमारे नेतागण बरबाद न करने

उबल पड़ेंगे यदि उन्हें फासीवादी कहा जाय। और फिर भी, चुनौतियां देने का खेल शुरू होने के पहले उन्होंने उन नीतियों का समर्थन किया जो म्यूनिक की ओर ले गईं और अन्त में हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार किये जाने के एक दिन बाद डसेलडार्फ समझौते पर हस्ताक्षर करवाये। ये लोग सामान्य मानव को घुटनों के बल रेंगवाना चाहते हैं और उसे एक ऐसा अधम शरणागत बनाना चाहते हैं जो अपनी जगह पर चूं न करे।"

पायेंगे। युद्ध की समस्यायें भावनात्मक दृष्टि से अधिक सबल होती हैं और इसलिए उन्हें सर्व-सामान्य का समर्थन प्राप्त होता है, जब कि शान्ति के उद्देश्यों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता क्योंकि जब तक युद्ध समाप्त न हो जाय तब तक उनका विवरण-पूर्ण निर्धारण नहीं हो सकता। किन्तु यदि शान्ति प्राप्त करनी है तो संसार के सभी देशों के प्रगतिशील तत्वों को अपने साधन जुटाने चाहिए और इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि अतीत की शिक्षायें भुला नहीं दी जायेंगी।

शान्ति-समझौते में सोवियत रूस की आवाज़ सबल रहेगी। यह कहना तो बहुत आसान है कि हम यह युद्ध संसार को बोलशेविकवाद के लिए सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से नहीं लड़ रहे। किन्तु नयी पीढ़ी को साम्यवाद की ओर साम्यवाद का प्रेम ही नहीं प्रेरित कर रहा; बल्कि उन्हें प्रेरित कर रहा है उनका यह संकल्प कि लाखों किसानों और मजदूरों के दयनीय जीवन-स्तर को वे ऊँचा उठायेंगे—उनके जीवन-स्तर को जो सर्वदा क्षुधार्त-स्थिति में रहते हैं और जब कभी बढ़िया या अकाल का दौड़ा हो जाता है तब उससे भी नीचे गिर जाते हैं। जिस प्रकार सोवियत रूस ने एक विस्तृत भू-प्रदेश से दारिद्र्य और अज्ञान को दूर भगा दिया है उससे हमारे हृदयों में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। और फिर इसके अलावा, इन दो युद्धों के बीच की अवधि में वह स्वार्थ-पूर्ण नीतियों में भागीदार नहीं बना। सोवियत सरकार ने यह स्पष्ट आश्वासन दिया है कि वह चेकोस्लोवाकिया को म्यूनिक के पहले की स्थिति में प्रतिष्ठित कर देगा। वह तेचिन प्रान्त पर चेकोस्लोवाकिया के दावे का समर्थन करता है जिसको म्यूनिक के बाद पोलैंड ने अपने राज्य में शामिल कर लिया है। मार्शल स्तालिन

ने लन्दन टाइम्स के मास्को-स्थित सम्वाददाता को विश्वास दिलाया है कि सोवियत् रूस की सरकार की इच्छा यह है कि हिटलरी जर्मनी की पराजय के बाद वह पोलैंड को एक स्वतंत्र और सबल राष्ट्र के रूप में देखे और यह कि युद्ध के बाद सोवियत रूस और पोलैंड के बीच के सम्बन्धों का आधार "भद्र पड़ोसियों के दृढ़ स्वस्थ-सम्बन्ध और पारस्परिक सम्मान के मौलिक सिद्धान्त होंगे या--यदि पोलैंड की जनता चाहे तो--पारस्परिक संधि के मौलिक सिद्धान्त होंगे जिनमें जर्मनों के विरुद्ध पारस्परिक सहायता का विधान रहेगा, क्योंकि सोवियत रूस और पोलैंड के वही प्रधान शत्रु हैं।"[1] सोवियत रूस में अनेक जातियाँ और जनपद सम्मिलित हैं जिनको अपने स्वाभाविक विकास के लिए पर्याप्त अवसर और क्षेत्र प्राप्त हैं। अपनी भौगोलिक स्थिति, अपने दृष्टिकोण और चरित्र से सोवियत रूस एशियाई राष्ट्रों को भली भाँति समझ सकता है और उनके साथ समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यह एक बहुत बड़ा लाभ है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को सभी लोगों का प्रेम और सब की सद्भावना प्राप्त है। एक शुद्ध, सरल और व्यापक धारणा यह है कि अमेरिका इस युद्ध में किसी स्वार्थ या प्रदेश या दूसरों पर शासनाधिकारों की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं सम्मिलित हुआ। वह दूसरे लोगों पर अपना शासन नहीं लादना चाहता। १९३४ के इन्डेपेन्डेन्स ऐक्ट से फिलिप्पाइन्स को एक स्वशासन का संविधान दिया गया और १९४६ में पूर्ण स्वाधीनता देने का वचन दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विदेश मंत्री श्री कार्डेलहल ने २३ जुलाई १९४२ को कहा था—

[1] १४ मई १९४३।

"बीते दिनों में यह हमारा उद्देश्य रहा है और भविष्य में यही हमारा उद्देश्य रहेगा कि हम अपने पूरे प्रभाव का उपयोग उन सभी लोगों की स्वाधीनता के समर्थन में करें जो अपने कार्यों से अपने आपको स्वाधीनता के योग्य और उसके लिए तत्पर सिद्ध कर दें।" दलित जातियों को अपनी स्वाधीनता के लिए सक्रिय होने को यह एक प्रोत्साहन है। श्री हल ने हाल के एक प्रेस सम्मेलन में अपने इस विचार को फिर दोहराया है: "यही हमारी अचल परम्परा रही है; हर व्यक्ति की स्वाधीनता के रक्षण और प्रोत्साहन की परम्परा—सर्वदा और सर्वत्र उन्हें उत्साहित करने की परम्परा।" चीन संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका पर विश्वास करता है क्योंकि वह जानता है कि जापान के साथ अमेरिका के विभेदों का केन्द्र चीन ही है।[1] अमेरिका को स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले सभी राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त है। केवल एक खतरा यही है कि यदि विजयी राष्ट्र अपनी शपथों से मुकर जायँ और युद्ध-पूर्व साम्राज्यवादी ढाँचे को फिर से जमाने की कोशिश करें तो अमेरिका शान्ति-वार्ताओं से कहीं अलग न हो जाय। किन्तु अमेरिका को इस प्रलोभन का प्रतिरोध करना चाहिए और स्वस्थ सद्-वृत्ति-पूर्ण शक्तियों के साथ मिलकर एक सुन्दर विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करना चाहिए।

ग्रेट ब्रिटेन का जन-मत अपने सरकारी प्रवक्ताओं की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगतिशील है। इंग्लैंड का हृदय स्वस्थ है। उसकी अन्तरात्मा के स्वर स्पष्ट हैं, यद्यपि उसके कार्य पिछड़े हुए हैं। जब

---

[1] फिर भी जब अमेरिका ने इन्डोचीन फ़्रांसीसी साम्राज्य को लौटा देने का वायदा किया तब चीन कुछ विचलित हो उठा था।

कुचक्री राष्ट्रों द्वारा स्पेन के गणतंत्र पर आघात किये गये तब अनेक ब्रिटेनवासी बड़ी उदात्त भावना से उस युद्ध में लड़े और स्पेन के गणतंत्र के लिए अपनी आहुति दी। चीन और जापान के बीच होनेवाले युद्ध को प्रारम्भिक दिनों में जब अंग्रेजी सरकार ने एक छोटी सी घटना कहकर टाल दिया तब वहाँ के लोग बहुत दुःखी हुए। ब्रिटेन का जनमत भारत में एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रबल पक्ष में है जो जापान के इस प्रचार का प्रभाव-पूर्ण उत्तर दे सकेगी कि ब्रिटेन उन आदर्शों का एक मखौल बना रहा है जिनके प्रति अपनी निष्ठा का वह ढिंढोरा पीटता है। किन्तु परम्परागत अंग्रेजी साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए कृत-संकल्प श्री चर्चिल की प्रतिष्ठा के सम्मुख उसकी कुछ नहीं चल पाती। इस सम्बन्ध में श्री चर्चिल की नीति उच्चतर सभ्यता की प्राप्ति के लिए चलनेवाले विश्व-आन्दोलन के विरुद्ध ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार धुरी-राष्ट्रों की नीति। ब्रिटेन के उदात्त-मन के पूर्ण विरोध में यह नीति है।[1] भारत के सम्बन्ध में श्री चर्चिल के कुछ अचल विचार हैं जिनको बदलने की वह चेष्टा नहीं करते। स्पेन के प्रति उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में श्रीमती रूजवेल्ट ने अभी उस दिन कहा था: "मेरा विचार है कि श्री चर्चिल ने पिछले ६० वर्षों

---

१ ठीक एक सौ वर्ष पहले (१८४४) लखनऊ के श्री लारेन्स ने लिखा था: "भारत को सर्वदा अपने अधीन रखने की आशा हम नहीं कर सकते। तो हमें ऐसा व्यवहार करना चाहिए......कि जब हमारा सम्बन्ध टूटे तो विक्षोभ के साथ न टूटे बल्कि पारस्परिक सम्मान और स्नेह के साथ टूटे और तब इंगलैंड को एक उदात्त सहयोगी प्राप्त हो।"

में एक विशिष्ट विचार-सरणि बना ली है और मुझे ऐसा नहीं मालूम होता कि वे उसे बदलना चाहते हैं; और स्पेन के सम्बन्ध में वह उसी ढंग से सोचते हैं।" यदि श्री चर्चिल गत शताब्दी की आदतों से अपना नाता नहीं तोड़ते तो युद्ध-काल में ब्रिटेन के नेता के रूप में वह चाहे जितने महान् सिद्ध हों पर विश्व-शान्ति के वह सबसे बड़े शत्रु सिद्ध होंगे। अपने देश को आत्यान्तिक संकट की अन्धकार-पूर्ण घड़ियों से वह सफलता पूर्वक अरूणोदय के प्रकाश में ले आये हैं, जब कि विजय उनके प्रयत्नों पर सफलता का मुकुट धरनेवाली है। यह विजय प्राप्त करने के लिए जो यातनायें और पीड़ायें लाखों व्यक्ति झेल रहे हैं उनका मूल्य यदि वह समझ पायें तो वह इतने मानव अवश्य होंगे कि ऐसे भयानक मेघ की पुनरावृत्ति रोकने में अपनी पूरी शक्ति लगा देगें। यदि उनके इस मानव-पक्ष को कुरेद दिया जाय तो अपने तेजस्वी साहस से वह संसार को आगे बढ़ाने में सहायता देंगे। सोलह जून सन् १९४० को फ़्रांस के सम्मुख रक्खा गया उनका यह अनुपम और उदारता-पूर्ण प्रस्ताव कि फ़्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्य की समस्त शक्तियों और संस्थाओं को एक संगठित रूप दे दिया जाय यह दिखाता है कि उनमें कितनी क्षमता है।[1] न केवल हिटलर की सैनिक शक्ति का कुचलना

---

[1] १६ जून सन् १९४० को अंग्रेज सरकार ने फ़्रांसीसी सरकार के पास एक प्रस्तावित घोषणा-पत्र भेजा जो निम्नलिखित है :--

ऐक्य-घोषणा-पत्र

आधुनिक संसार के इतिहास की इस सर्वाधिक संकटपूर्ण घड़ी में यूनाइटेड किंगडम (संयुक्त राष्ट्र-मण्डल--ब्रिटेन) और

बल्कि युद्ध-पूर्व संसार से एक सुन्दरतर संसार की स्थापना भी उनका एक महान् कर्तव्य है। अमेरिका, रूस और चीन को, जो संयुक्त राष्ट्र-

---

फ्रांसीसी गण-राज्य की सरकारें मानव-जाति को मशीनों और दासों के स्तर पर गिरानेवाली प्रथा की दासता के विरुद्ध न्याय और स्वाधीनता की अपनी सामान्य सुरक्षा के लिए अपनी अविलयनशील एकता और अपने अपराजेय संकल्प की यह घोषणा करती हैं।

दोनों सरकारें घोषणा करती हैं कि फ़ांस और ब्रिटेन अब दो राष्ट्र नहीं रहेंगे बल्कि एक फ़ांसीसी-ब्रिटिश संघ बन जायेंगे। इस संघ के संविधान में सुरक्षा, वैदेशिक, आर्थिक और वित्तीय नीतियों की संयुक्त संस्थाओं की व्यवस्था रहेगी। फ़ांस का प्रत्येक नागरिक ग्रेट ब्रिटेन की नागरिकता प्राप्त कर लेगा, इंग्लैंड की प्रत्येक प्रजा फ़ांस का नागरिक बन जायगी।

युद्ध द्वारा होनेवाले विध्वंसों के पुनर्निर्माण का उत्तरदायित्व दोनों देशों का होगा, यह विध्वंस उनके भू-प्रदेशों में चाहे जहाँ हो और दोनों देशों के साधनों का समान और एक-रूप नियोग इस कार्य के लिए किया जायगा।

युद्ध-काल में एक युद्ध-मंत्रिमण्डल रहेगा और ब्रिटेन और फ़ांस की समस्त स्थल, जल तथा नौ-शक्ति उसके नियंत्रण में रक्खी जायगी। जहाँ से सर्वोत्तम रीति से सम्भव हो वहीं से यह मंत्रि-मण्डल अपना काम करेगा। दोनों संसदों—पार्लियामेंटों—को विधिवत मिला दिया जायगा।

अंग्रेजी साम्राज्य के राष्ट्र पहले से ही नई सेनायें तैयार कर रहे हैं। फ़ांस भी अपनी प्राप्य जल, स्थल और नौ-सेनायें मैदान में रक्खेगा। यह संघ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से अपील करता है कि मित्र-राष्ट्रों के आर्थिक साधनों को दृढ़ करें और इस सामान्य लक्ष्य की सिद्धि में अपनी शक्तिपूर्ण भौतिक सहायता दे।

चाहे जहाँ युद्ध हो यह संघ अपनी समस्त शक्ति शत्रु शक्ति के विरुद्ध केन्द्रित करेगा। और इस प्रकार हम विजयी होंगे।

संघ के सबल सदस्य हैं, चर्चिल के इस १९ वीं शताब्दी के साम्राज्यवाद से कोई सहानुभूति नहीं और उनका विश्वास है कि वह यह युद्ध भारत की स्वाधीनता के लिए उतना ही लड़ रहें हैं जितना स्वयं अपनी स्वाधीनता के लिए। यदि ये राष्ट्र कोई खुला दृढ़ विरोध नहीं प्रगट करते तो इसका कारण यह है युद्ध-काल में मित्र-राष्ट्रों के बीच किसी प्रकार के भी विभेद को बराना चाहते हैं।

जिन उद्देश्यों की घोषणा पर मित्र-राष्ट्रों ने गम्भीरता पूर्वक हस्ताक्षर किये हैं उनके पूरे किये जाने की आवश्यकता है। मित्र-राष्ट्रों को--छोटे और बड़े सबों को--एक साथ काम करना होगा और शान्ति-सम्मेलन में दो या तीन राष्ट्रों के किसी गुट का आदेश नहीं चलना चाहिए, वे राष्ट्र चाहे जितने प्रभावशाली हों। श्रीमती ऐस्टर ने कहा है: "मैं चाहूंगी कि अमेरिका और ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल द्वारा स्थापित नवीन समाज के ढांचे में चीन और रूस भी सम्मिलित हों, पर इसके लिए उन्हें अंग्रेजों की विचार-पद्धति अपनानी होगी।"[1] संसार की आशा इस बात में है कि ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत संघ और चीन के साथ पूरा-पूरा और हार्दिक सहयोग करे। एक होकर यह राष्ट्र संसार को सामान्य आदर्शों की दिशा में आगे ले जा सकते हैं, किन्तु यदि पारस्परिक सन्देहों ने उन्हें अलग-अलग रक्खा तो धुरी-राष्ट्रों की पराजय भले ही हो पर विजय उन्हीं की नीतियों की होगी।

न्याययुक्त विश्व-शान्ति के आधारभूत सिद्धान्त

यदि हमें शान्ति जीतनी है, यदि एक व्यवस्थित मानव समाज की

[1] न्यूज़ क्रानिकल, अक्टूबर १९४२।

महान् आशा और स्वप्न को पराजित नहीं करना है तो हमें विचार-जगत में भी अत्याचार को पराजित करना होगा और एक न्याययुक्त विश्व-शान्ति के प्राथमिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना होगा। लोग अपना बलिदान कर रहे हैं एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए नहीं जो एक अनिश्चित और-मन्द संघात-गति से किसी सुदूर भविष्य में स्थापित हो बल्कि एक समानता के लिए जिसकी जान बूझ कर सायास योजना बनाई जाय और जिसे अपना लक्ष्य बनाया जाय।

(१) जातीय समानता

विगत शान्ति-सम्मेलन में जातीय समानता का सिद्धान्त उपस्थित किया गया था पर वह अस्वीकार कर दिया गया। एशिया में जापान के तेज बढ़ाव के चाहे जो कारण बताये जाँय, हमें यह स्वीकार करना ही चाहिए कि एक ऐसे प्रभावपूर्ण उदार नेतृत्व का अभाव था जो एशिया के लोगों में प्रतिरोध की संकल्प-भावना जगा सके। अधिकांश में लोग जापान की बिजयों के तटस्थ और विरक्त दर्शक-मात्र बने रहे। अभी उस दिन कैन्टरबरी के महापादरी ने कहा था कि "इस युद्ध का परिणाम हुआ है रंगीन जातियों के प्रति एक नया सम्मान।" यह सोचकर दुःख होता है कि जिन सभ्य-संस्कृत-मान महत्वों के पोषक चीन और भारत सदियों से रहे हैं—चीन की परम्परा की अमूल्य दार्शनिक और कलात्मक निधियाँ, भारत के आध्यात्मिक और धार्मिक वैभव—उन्हें समानता के व्यवहार के अधिकारी न बना सके, किन्तु जापान की विजयों, चीन के वीरतापूर्ण प्रतिरोध और योरोप, एशिया और अफ़्रीका के युद्धक्षेत्रों में भारत की महान् सफलताओं ने अपना मूल्य

आँकने पर लोगों को विवश कर दिया। हम नैतिक महत्ता को सामरिक शक्ति के साथ एक-रूप बना रहे हैं। मित्र-राष्ट्रों ने घोषणा की है कि युद्ध धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध, जो प्रभु या शासक जातियों की धारणा पर विश्वास करते हैं, जातीय समानता के लिए लड़ा जा रहा है। मित्र-राष्ट्र एक जाति या एक रंग के नहीं हैं लेकिन वे एक ही उद्देश्य को मानते हैं। दलित राष्ट्रों के लिए अपने संगठित पुरुषत्व को युद्ध-यंत्र में परिणत करना, अपने देशों को बन्दी-शिविरों का रूप दे देना और मानवता का मूल्य चुका कर युद्ध-कौशल विकसित करना आवश्यक नहीं होना चाहिए। मानव जाति के लिए वह दिन बड़ा दुःखद होगा जब न्याय अपनी न्याय्यता के कारण नहीं बल्कि सैनिक शक्ति के बल पर ही स्वीकार किया जायगा। राष्ट्र टैन्कों, बम बाजों और युद्ध पोतों से लैस होने के कारण महान् नहीं बनते, बल्कि वे महान् बनते हैं अपनी कल्याण-क्षमता के कारण। चीन और भारत अनेक राजनीतिक उत्थान-पतनों और विप्लवों से होकर गुजरे हैं। अनेकों बार विदेशी आक्रमणकारियों ने उनके देश बरबाद किये हैं; लोभी-लालची राष्ट्रों ने उनकी सम्पति का शोषण किया है; फिर भी उनकी सभ्यतायें नष्ट नहीं हुईं––बल्कि उन्होंने अपनी प्रगति जारी रक्खी है––प्रायः युद्ध-क्षेत्र के विजय पाने वाले अपने विजेताओं पर भी अपनी विजय स्थापित करते हुए। उनमें एक अद्‌भुत जीवनी-शक्ति है, एक अद्‌भुत स्थायित्व और सहनशक्ति है जो आज के अस्थिर विक्षुब्ध संसार के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

(२) एक विश्व राष्ट्र-मण्डल

एक ऐसे विश्व में जो दृढ़ता से एक में बँधा हुआ है, जो तत्वतः

अविभाज्य है और जो यथार्थतः अविभाज्य होने के लिए दबाव डाल रहा है, एकान्त तटस्थता और साम्राज्यवाद दोनों ही गये बीते और अनुपयुक्त हैं। सर्वाधिक शक्तिमान राष्ट्र या राष्ट्रों के गुट के लिए भी एकान्त तटस्थता सम्भव नहीं है। इस युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल, अमेरीकी संघ अथवा सोवियत रूस जैसे बड़े-बड़े गुट भी अकेले अपनी स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सकते। उनमें से कोई भी अपने आप में पर्याप्त नहीं है। ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल जिसके अधीन भू-प्रदेश संसार के हर भाग में बिखरे हुए हैं, तो सबसे कम अपने आप में पर्याप्त कहा जा सकता है। हमारा उद्देश्य आत्म-तुष्ट या स्वयं-पर्याप्त स्वाधीनता नहीं, शान्तिप्रिय राष्ट्रों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिए। जो राष्ट्र एकान्त-तटस्थता की नीति अपनाते हैं वे अपनी स्वाधीनता खो देंगे और अपनी सीमा में बन्द रूद्ध-श्वास मर जायगें।

साम्राज्यवाद का अर्थ है कुछ दूसरे राष्ट्रों की स्वाधीनता का बलिदान। यह युद्ध इसलिए लड़ना पड़ा कि पिछले युद्ध के विजयी राष्ट्रों ने अपने अतीत आक्रमणों और अपकारों के फल नहीं त्यागे थे। अब भी अंग्रेज, फ़ांसीसी डच और अन्य उपनिवेशों के स्वामी आसानी से यह त्याग करने के लिए नहीं झुकेंगें। यदि एक लोभी व्यक्ति एक कंटक है तो एक लोभी राष्ट्र तो एक महान् आपदा है। जो देश धुरी-राष्ट्रों के आक्रमणों से रौंदें जा सके हैं केवल वही नहीं बल्कि संसार के सब भागों के उन सब देशों को बिना किसी बाहिरी हस्तक्षेप के अपना भाग्य-निर्माण करने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए जो विदेशी शासन के अधीन हैं। सभी राष्ट्र एक विश्व-समाज के समर्थ और सम्मान्य सदस्य हैं और ऐसे समाज के साथ राजनीतिक साम्राज्यों का मेल नहीं

बैठ सकता। हम धुरी राष्ट्रों द्वारा होने वाले शोषण के विरुद्ध इसलिए नहीं लड़ रहे कि उसके स्थान पर स्वयं अपने द्वारा किया जाने वाला शोषण स्थापित करें।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना भी गहरी होती जा रही है। यह दोनों प्रवृतियाँ परस्पर घातक नहीं हैं। दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। जैसे गुलामों को इकट्ठा कर एक प्रजातंत्रवादी राज्य नहीं बनाया जा सकता बल्कि स्वतंत्र और आत्म-सम्मान-पूर्ण स्त्री पुरुषों द्वारा ही उसका निर्माण होता है; ठीक उसी प्रकार गुलाम राष्ट्रों से विश्व-समाज की स्थापना नहीं हो सकती। हमें एक ऐसे राष्ट्र-मंडल की स्थापना करनी चाहिए जिसके सब सदस्यों को अवसर की समानता प्राप्त हो। संयुक्त राष्ट्र-संघ को, अगुवा सदस्यों के रूप में, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत रूस और चीन की एक समिति बनानी चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन और पश्चिमी योरोप के प्रजातंत्र-वादी राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए एक सम्भव संगठन का सुझाव फील्ड मार्शल स्मट्सने दिया है। किन्तु इस प्रकार के प्रादेशिक गुट एक विश्व समिति के अधीन ही काम कर सकते हैं; अन्यथा वे बुराइयों के स्रोत बन जाँयगें। प्रादेशिक संधियाँ प्रादेशिक सुरक्षा की भावना उत्पन्न कर सकती हैं और आन्तरिक अव्यवस्थाओं या गड़बड़ियों को रोक सकती हैं; किन्तु यह प्रादेशिक गुट विश्व-शक्तियों से अलग नहीं टिक सकते। यदि पूर्ण-युद्ध का अर्थ है युद्ध-रत संसार, तो पूर्ण शान्ति का अर्थ है एक सुरक्षित संसार। मानव जाति को एक-रूप होकर आगे बढ़ना चाहिए। विश्व-समिति बहिष्कार मूलक नहीं होनी चाहिए बल्कि उसे सामान्य संगठन में धुरी-राष्ट्रों को भी, उनका पुनर्निर्माण हो जाने के बाद, आमंत्रित करना चाहिए।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस

गांधीजी की यह घोषणा बिलकुल ठीक है कि युद्ध एक पाप है और अहिंसा, युद्ध न करने का मानव संकल्प, उसका एक मात्र स्थायी उपचार है। शान्ति तो आत्म-बलिदान, विनय, पश्चाताप और आत्म-निवेदन का महान् फल है न कि हिंसा और विजय का। ईश्वर पर विश्वास करने वाले, उनकी धार्मिक संज्ञा चाहे जो हो, अहिंसा पर अपना विश्वास घोषित करते हैं। जर्मनी के साइलीशिया प्रदेश में, जो आज एक विस्तृत युद्ध-क्षेत्र बना हुआ है, एक पुराना शहर है गालिज़, जो अब उद्यम और उद्योगों का एक केन्द्र बन गया है; इस शहर को जाने वाली एक कोलाहल-पूर्ण सड़क पर कुछ वर्ष पहले महान् पर नितान्त अप्रसिद्ध क्रिश्चियन जैकब बायम के सम्मान में एक मूर्ति रक्खी थी जिसकी आधारशिला पर यह शब्द खोदे गये हैं, "प्रेम और विनय हमारी तलवार है।" संसार की मुक्ति आत्मा के ऐसे ही सैनिकों द्वारा सिद्ध हो सकती है जो स्वेच्छापूर्वक यातना और जीवनोत्सर्ग तक इस विश्वास से स्वीकार करते हैं कि वह बलिदान अत्याचारी और बलिपन्थी दोनों को ही ऊपर उठायेगा। गाँधी को एक अव्यावहारिक स्वप्नदृष्टा कह कर हम उनकी हँसी उड़ा सकते हैं। किन्तु वह उन रचनात्मक आत्माओं में से हैं जो अपना आवि-र्भाव इस संसार में बड़ी लम्बी अवधि के बाद करती हैं। अपने जीवन और उपदेशों के बल से इस एकाकी पुरुष ने, जो मानवता के विवेक की— उसकी अन्तरात्मा की मूर्ति बना है, इस संसार में कितनी कामना, कितनी आशा उत्पन्न कर दी है। वह हम से कहते हैं कि हम अपने विवेक की आँखें खोलें, चैतन्य बनें और अपने वर्तमान जीवन की

प्रमत्तता का, पागलपन का अनुभव कर। यदि हम युद्ध की क्रूरताओं और नृशंस उत्तेजनाओं के अभ्यस्त हो जाते हैं और विश्वास करने लगते हैं कि यह सब मनुष्य के लिए स्वाभाविक है तब तो हमारी मनुष्य जाति में मानवता का लेश भी न रह जायगा। इस अन्धयुग में सम्भवत: गाँधी की आँखों में ही सर्वाधिक प्रबुद्ध ज्योति है, सम्भवत: वही वर्तमान विभीषिकामयी आपदा का पूरा-पूरा अर्थ समझ पाये हैं।

किसी न किसी दिन मनुष्य इस हत्याकांड से परिश्रान्त हो जायगा, ऊब जायगा; पर वर्तमान परिस्थितियों में तो शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। पर यह प्रयोग विधान का निर्वहन करने वाले निष्पक्ष न्यायाधीश द्वारा होना चाहिए; क्योंकि विधान के आदेश और अनुमति से शक्ति का प्रयोग करने की अपेक्षा उसका अनियमित प्रयोग तो बहुत ही बुरा है। मंचूरिया में राष्ट्र-संघ की संविद भंग हो गई, एथिओपिया स्पेन, अल्बानिया, और आस्ट्रिया में वह छिन्न-भिन्न हो गई——म्यूनिक में जो कुछ हुआ उसकी तो चर्चा ही छोड़िये—क्योंकि राष्ट्र-संघ के पास दृढ़ अनुशासन की कोई शक्ति न थी। संघ एक ऐसी बन्दूक की तरह था जिससे खोखली गोलियाँ दागी जाती थीं। नवीन राष्ट्र-संघ के पास एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस होनी चाहिए, और सरकारों को अपनी प्रभु-सत्ता का कुछ अंश उसे समर्पित करना चाहिए। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार-सत्ता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्त को मानते हैं उन्हें अपनी वर्तमान प्रभु-सत्ता के कुछ अंश को बलिदान करने के लिए तैयार होना चाहिए। यदि हम शान्ति और सुरक्षा चाहते हैं तो हमें उन साधनों से घृणा नहीं करना चाहिए जो शान्ति और सुरक्षा को जन्म देते हैं। संसार की शक्तिशाली सरकारें, विशेष कर वे जो युद्ध में विजय पाती हैं, इस मांग के सामने आसानी से झुकने को तैयार हों,

ऐसा सम्भव नहीं है; किन्तु संसार की पराजित और पराधीन जातियां और विजयी राष्ट्रों के आदर्शवादी तत्व भी इस प्रकार के विश्व-संगठन का स्वागत करेंगे। यदि हम मानव-स्वभाव और देश-भक्ति के गर्व का विचार करें तो एक ऐसी सहयोग-मूलक सैनिक कार्यवाही के द्वारा सामूहिक सुरक्षा सिद्ध कर सकना, जो राष्ट्रों को अपनी स्थल, जल और नौ-सेनायें सज्जित करने की शक्ति दे, इतना प्रभावपूर्ण न होगा जितना कि एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति का निर्माण। और यह संसार केवल बड़ी-बड़ी शक्तियों द्वारा ही संचालित भी नहीं हो सकता। हमें एक केन्द्रीय संगठन स्थापित करना चाहिए जिसके अपने न्यायालय हों जो अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करें। और एक संगठित सैनिक शक्ति हो जो उनके निर्णयों को लागू करे। इस विश्व संगठन को एक आगम-शुल्क-संघ स्थापित करना चाहिए, एक सामान्य मुद्रा स्थापित करनी चाहिए और इस बात पर जोर देना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंमें अनिवार्य मध्यस्थता स्वीकार की जाय। विश्व-संगठन को न केवल सुरक्षा का संभार करना चाहिए बल्कि उसे शान्तिपूर्ण परिवर्तन का भी प्रभाव-शाली साधन बनना चाहिए। भौतिक समृद्धि में जो राष्ट्र पिछड़े हुए हैं उन्हें अपनी आर्थिक और राजनैतिक उन्नति में अधिक उन्नत राष्ट्रों द्वारासहायता दी जानी चाहिए और इस उद्देश्यके लिए अन्तर्राष्ट्रीय निर्देश-समितियाँ स्थापित की जानी चाहिए। पिछड़े हुए राष्ट्रों को आर्थिक, प्राविधिक, औद्योगिक और अन्य प्रकार की सहायता मिलनी ही चाहिए और इन राष्ट्रों को राज्य द्वारा संचालित सहकारिता मूलक अर्थ-नीति के आधार पर अपनी एक विकास-योजना अंगीकार करनी चाहिए।

इटली-स्थित भूतपूर्व सोवियत राजदूत एम० बोरिसस्तीन ने अपने

एक 'युद्ध और श्रमिक वर्ग' शीर्षक निबन्ध [१] में लिखा है कि निरुपाधिक आत्म-समर्पण कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि परिस्थिति विशेष के यथार्थ तथ्यों की परवाह किये बिना ही अन्धे बनकर उसे लागू किया जाय। एम० स्तालिन जर्मनी के निरुपाधिक आत्म-समर्पण की बात नहीं करते बल्कि वह तो केवल हिटलरी जर्मनी के पराजय की बात करते हैं।[२] पराजित लोगों की अवहेला और घृणा और उसके

---

[१] ७ मई १६४४।

[२] कहा जाता है कि सन् १६४२ में जब आंग्ल सोवियत-संधि के कागजात तैयार किये गये तो मसविदे में 'जर्मनी' शब्द था और श्री स्तालिन ने एक कलम उठाई और उसे बदल कर 'हिटलरी जर्मनी' कर दिया। एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था—"हम जर्मनी का विनाश करने की समस्या से परेशान नहीं हैं क्योंकि जैसे रूस का विनाश किया जाना सम्भव नहीं है उसी प्रकार जर्मनी का विनाश किया जाना भी कम असम्भव नहीं है। किन्तु हिटलरी-राज्य का समाप्त किया जाना सम्भव है और आवश्यक भी।" इसके साथ श्री नेवाइल चेम्बरलेन की तुलना कीजिए—"इस युद्ध में हम आपके—जर्मन जनता के—विरुद्ध नहीं लड़ रहे जिनके प्रति हमारे हृदय में किसी प्रकार की कटु भावनायें नहीं हैं, बल्कि हम तो एक अत्याचारी और मिथ्याचारी शासक-सत्ता के विरुद्ध लड़ रहे हैं जिसने न केवल आपको—स्वयं अपनी प्रजा को—धोखा दिया है बल्कि समूची पश्चिमी सभ्यता के साथ, और जो कुछ हमें और आपको प्यारा है उस सब के साथ, विश्वासघात किया है।" सितम्बर ५, १६३६। सम्राट् की सरकार की ओर से बोलते हुए लार्ड चैन्सलर ने १० मार्च सन् १६४३ की हाउस आफ लार्डस में घोषणा की थी—"हम प्रधान मंत्री स्तालिन के साथ सहमत हैं एक तो इस बात में कि हिटलरी राज्य नष्ट किया जाना चाहिए, और दूसरे

द्वारा उनके हृदयों पर एक गहरी चोट पहुँचान की प्रवृत्ति में अत्यन्त भयानक परिणाम छिपे हैं। विजयी और विजित का अन्तर अनिवार्यतः कोई पुण्यात्मा और पापात्मा के बीच का अन्तर नहीं है। युद्ध किसी भी झगड़े के अपराधियों और निर्दोषों—पुण्यों और पापों का फैसला नहीं करता। और फिर हिंसा का कोई अन्तिम चरम-रूप तो निश्चित नहीं है।

हर प्रकार की शक्ति मनुष्य में जो एक आन्तरिक कठोरता उत्पन्न करती है, विजय की घड़ी में जो आध्यात्मिक-जड़ता या स्तब्धता एक समूची जाति पर छा जाती है, उससे हमें अपने आपको बचाना ही होगा। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो हमें यह समझाते हैं कि पिछले युद्ध में जर्मनी का ठीक-ठीक दलन नहीं किया गया था। उसे पराजित किया था पर छिन्न-भिन्न नहीं किया गया था। हमें यह भूल दुबारा न करनी चाहिए। हमें जर्मनी का इतना व्यापक विनाश कर देना चाहिए कि उसके फिर प्रत्युद्धार की कोई आशा न रह जाय। नगरों को धूलिसात् कर दो, धरती को जोतकर उसमें नमक बो दो जैसा कि रोम के लोगों ने कार्थिज के साथ किया था।"[१] यह तो पागलपन का रास्ता है। २५ मई सन्

इस बात में कि इस विनाश का यह अर्थ नहीं है कि इससे समूची जर्मन जनता का विनाश हो जाय।"

[१] जर्मनी के साथ एक 'संयत-शान्ति समझौता' की माँग करते हुए ब्रिटेन के प्रधान साप्ताहिक पत्र इकानामिस्ट ने १० अगस्त १९४४ के एक लेख में 'जर्मनी के लिए शर्तें' पर लिखते हुए कहा है कि यद्यपि निर्दिष्ट शर्तें ज्ञात नहीं हैं फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि मित्र-राष्ट्रों की शर्तें कार्थेज की संधि-शर्तों से बढ़कर ही होंगी। अर्ध-राजकीय वक्तव्यों, छोटे मित्र-राष्ट्रों की घोषणाओं,

१६

१९४४ को श्री चर्चिल ने कहा था—"हम चोट खाये हुए हैं और अनुभव प्राप्त किये हुए हैं, हमारी इच्छा है कि अपने पुत्रों और पौत्रों के जीवनकाल में मानव-मूल्यों के उस भयानक विनाश की पुनरावृत्ति रोकने के लिए जो पिछले और वर्तमान विश्व युद्धों की विशेषता रही है, हम इस बार उन उपायों से अधिक अच्छे उपायों की व्यवस्था कर जो पिछली बार सोचे जा सके थे।"

यदि वह संसार से युद्ध का संकट दूर करने की कामना करते हैं, यदि मानव-जाति के हृदय में फिर से आशा का संचार करना है, यदि

अफवाहों और प्रेस रिपोर्टों--सबका यही संकेत है कि शान्ति समझौता, क्षतिपूर्ति, प्रतिफल, प्रदेशों का विलयन और आबादी के परिवर्तन की शर्तों से भरा होगा।

जो सम्बाद मिल रहे हैं उनके अनुसार पूर्वी प्रशा को रूस और पोलैण्ड के बीच बाँट दिया जायगा, पोमेरानिया और साइलीशिया के बड़े-बड़े हिस्से पोलैण्ड को मिल जायँगे, राइनलैण्ड फ्रांस को मिल जायगा और कुछ हिस्से हालैण्ड को मिल जायँगे। कुछ क्षेत्रों में प्रदेश-सम्मिलन के साथ जर्मन जनता का बहुसंख्यक स्थानान्तरण भी होगा जिसमें लगभग एक करोड़ जर्मन अपना घर-बार छोड़ने पर विवश होंगे।

यह घोषणा करते हुए कि इस सब से युद्ध का संकट टलने के बजाय और निश्चित् और अवश्यम्भावी हो जायगा, इस पत्र ने अपील की है कि एक संयत शान्ति-समझौता किया जाय जिसमें युद्ध-अपराधियों को दण्ड, शारीरिक क्षति-पूर्ति, और पूर्व में कुछ सीमाओं का सुधार जहाँ आबादी के स्थानान्तरण के बजाय उसकी अदला-बदली सम्भव हो सके, शामिल रहना चाहिए। जिस प्रकार की प्रादेशिक व्यवस्था की प्रस्तावना की जा रही है उसके पक्ष में और उसे लागू करने के लिए पश्चिम में मित्र-राष्ट्रों का जनमत एक उंगली उठाने के लिए भी इच्छुक न होगा।

जर्मनी और जापान में भी लोगों को यह अनुभव करना है कि—जैसा मार्शल स्तालिन ने कहा है—यह युद्ध सचमुच स्वाधीनता का, मुक्ति का युद्ध है, कि सभी राष्ट्र और सभी जातियाँ जो आज विदेशी अधिकार में हैं—वह अधिकार चाहे धुरी-राष्ट्रों का हो चाहे अन्य साम्राज्यवादों का—स्वाधीन की जायँगी, तो उसका रास्ता यह है कि तत्काल इस बात की घोषणा कर दी जाय कि वास्तव में यही हमारा उद्देश्य है और धरती पर किसी भी राष्ट्र या जाति को अपने भावी भाग्य के सम्बन्ध में शंकाकुल होने की आवश्यकता नहीं है। यदि धुरी-राष्ट्रों को इस बात का भय बना रहा कि पराजय के परिणाम होंगे अंग-भंग, अराजकता और कटु अपमान, तो वे इन परिणामों से बचने के लिए उस साहस के साथ लड़ेंगे जो निराशा से उत्पन्न होता है। यदि हमें शान्ति से प्रेम है, यदि हम युद्ध की यातना को घटाना चाहते हैं, यदि सैनिक विजयों को तीव्रगामी और उनके मूल्य को कम भयानक बनाना है तो मित्र-राष्ट्रों को अपने राजनीतिक अस्त्र का प्रयोग एकता और शक्ति के साथ करना चाहिए। यदि वे आज अविलम्ब यह घोषणा करदें कि वे बालकन राज्यों समेत समस्त छोटे-छोटे राज्यों, आश्रित-राज्यों और उपनिवेशों की स्वाधीनता की रक्षा करेंगे और उसकी प्रत्याभूति देंगे तो इन सभी राज्यों की नीतियाँ एक नवीन दिशा की ओर मुड़ जायँगी और हो सकता है कि धुरी-राष्ट्र भी शान्ति समझौते की प्रार्थना करें। इस महान् सिद्धि के लिए क्या हममें इतनी आदर्श कल्पना, इतना साहस इतनी शक्ति और इतनी बलिदान की भावना है?

परिशिष्ट १

(डाक्टर एस० राधाकृष्णन के सम्मान में दिये गये प्रीति-भोज के अवसर पर माननीय मंत्री चेनली-फू का स्वागत भाषण : ६-५-१९४४)

सर एस० राधाकृष्णन और सज्जनों--आज की इस संध्या-वेला में एक विश्व-विख्यात विद्वान्--सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है जो चीन की सरकार के निमंत्रण पर चुंगकिंग पधारे हैं। उनके आगमन के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकाशन के रूपमें मैं इस अवसर पर यह बता देना चाहता हूँ कि हमने किस उद्देश्य से उन्हें आमंत्रित किया है और उनके कृपापूर्ण आगमन तथा इस देश में उनके भाषणों के क्या सम्भाव्य परिणाम होंगे।

सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत प्रथम तो हम इसलिए करते हैं कि वे एक सुविख्यात दार्शनिक हैं जिन्होंने पूर्व के दर्शन-शास्त्र और धर्म का गम्भीर अध्ययन किया है और उनके सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें लिखी ह। दर्शन समस्त ज्ञान का गुरू है। अध्यक्ष च्यांग का कहना है--"दर्शन क्यों इतना महत्वपूर्ण है और उसकी शक्ति क्यों इतनी महान् है, इसका रहस्य विश्व का अध्ययन करने, उसकी व्याख्या करने और उसके भीतर की समस्त वस्तुओं का नियमन करने की उसकी भावना में है। जीवन का यथार्थ महत्त्व बताने और मनुष्य की समस्याओं का समाधान करने की शक्ति दर्शन के अतिरिक्त और कहीं नहीं।" पूर्व और पश्चिम दोनों ही में दर्शन का अध्ययन बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। वास्तव में यह अध्ययन ज्ञान की किसी भी शाखा के अध्ययन से पहले प्रारम्भ हुआ था। उदाहरण के लिए 'दि बुक आफ चेन्जेज', जो दर्शन-शास्त्र का एक महान् ग्रन्थ है, प्राचीन चीनी ग्रन्थों के रचनाकाल

के क्रम से सबसे पहला ग्रन्थ है। आधुनिक विज्ञान के युग में भी अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक दार्शनिक भी हैं जैसे श्री अल्बर्ट आइन्स्टीन, श्री बर्ट्रेन्ड रसल और श्री हैन्सड्राइख जो चीन पधारे थ और जिनका विज्ञान का अध्ययन अन्ततोगत्वा दर्शन में ही लौट आता है। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि दर्शन-शास्त्र ही प्रथम और अन्तिम ज्ञान है। वर्तमान समय में जब कि प्रतिरोध-संग्राम लड़ने में हमें विज्ञान की अत्यधिक आवश्यकता है तभी हमें दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की और भी अधिक जरूरत है। युद्धोत्तर विश्व-सुधार और स्थायी शान्ति की दृढ़ नींव रखने के लिए एक सुन्दर समुन्नत दार्शनिक आदर्श की हमें विशेष आवश्यकता है। इसीलिए हमने सर एस० राधाकृष्णन को चीन में प्रवचन करने के लिए आमंत्रित किया है; इस आशा से कि पूर्व के दर्शन-शास्त्र और धर्म के अपने गम्भीर अध्ययन और अंग्रेजी तथा अमरीकी विश्व-विद्यालयों में भाषण देते हुए उन्होंने पश्चिम की विचार-धारा और संस्कृति का जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है उससे हम उनसे, जो कुछ मनन-चिन्तन वह हमें बतायें, हम सीख सकें।

सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत हम इसलिए और भी करते हैं कि वह भारत के एक प्रतिनिधि विद्वान हैं और भारत हमारे देश के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है। भारत और चीन की संस्कृतियों का अन्तर्प्रवाह बहुत पहिले प्रारम्भ हो गया था। अतीत युग में चीन की सभ्यता पर भारतीय संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ा था; और भारतीय सभ्यता पर चीन की संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा था। जब से महान् कवि-दार्शनिक स्वर्गीय डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर हमारे देश पधारे थे और माननीय ताई ची-ताओ न भारत की यात्रा की है तब से भारत और चीन के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध पहले की

अपेक्षा अधिक घनिष्ट हो गये हैं। गत-वर्ष से पूर्व-वर्ष में महाबलाधिकृत और श्रीमती च्यांग समूचे चीन राष्ट्र की मित्रता का सन्देश भारत ले गये थे और इस प्रकार दोनों देशों के बीच स्नेह और भी गहरा हो गया। गत बसन्त में इस मंत्रालय के उपमंत्री डाक्टर कू एक और शैक्षिक और सांस्कृतिक शिष्ट-मण्डल का नेतृत्व करते हुए भारत गये थे और बनारस विश्वविद्यालय भी देखा था। मुझे यह बतलाते हुए प्रसन्नता होती है कि इस समय हमारे तीन विद्यार्थी उस विद्यालय में अध्ययन कर रहे हैं और उस विश्वविद्यालय ने भी अपना एक विद्यार्थी हमारे देश में अध्ययन करने के लिए भेजा है। शैक्षिक शिष्टमंडल के लौटने के बाद हम लोगों ने निश्चय किया की भारत के प्रतिनिधि विद्वानों को चीन में भाषण देने के लिए आमंत्रित करें। हमारा निमंत्रण स्वीकार करके इस देश पधारनेवाले सर एस० राधाकृष्णन प्रथम ऐसे भारतीय हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीय और चीनी दोनों ही पूर्व की महान् जातियाँ हैं जिनका एक दीर्घ इतिहास है और जिनकी एक ऊँची संस्कृति है। पारस्परिक सद्बोध और सहयोग के आधार पर दोनों निस्सन्देह पूर्व की और समूचे संसार की प्रगति में—उनके स्थायित्व में समान-रूप से योगदान करेंगे। हमारा विश्वास है कि दोनों देशों के शिक्षकों और विद्वानों का घनिष्ट सहयोग इस प्रकार के सद्बोध और सहयोग को उन्नत और गम्भीर बनायेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि सर एस० राधाकृष्णन जो पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों और धर्मों में इतने निष्णात हैं, इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं। हम इस बात का भरोसा कर सकते हैं कि इस देश में सर एस० राधाकृष्णन् के आगमन के बाद भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्धों का और भी घनिष्ठ विकास होगा।

मुझे याद आता है मैंने एकबार कहा था, "प्रकाशमान् तारे पश्चिम की भाँति पूर्व में भी चमक सकते हैं।" मैंने यह भी कहा था कि जिन जातियों के बीच सर्वाधिक पारस्परिक सद्बोध होगा उन्हीं के बीच सर्वाधिक पारस्परिक सहानुभूति होगी। मैं बड़े सम्मान और पूर्ण सत्यनिष्ठा के साथ, सर एस० राधाकृष्णन् का स्वागत करता हूँ। अनुमति दीजिए कि मैं उपस्थित अतिथियों के साथ सर एस० राधाकृष्णन् के स्वास्थ्य और चीन में उनके आनन्दमय अल्पप्रवास की शुभकामना का पान करूँ।

परिशिष्ट २

शिक्षा मंत्रालय

चुंगकिंग, चीन

इस मंत्रालय के निमंत्रण पर सर एस० राधाकृष्णन् प्रवचन देने के लिए चीन पधारे हैं और हमें भूयसी ज्ञान-ज्योति दी है। उनके बिदा की बेला में अपने हार्दिक भावना प्रगट करने के लिए मैंने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं; इस कामना के साथ कि भारत व चीन की संस्कृतियों का अन्तर्प्रवाह अनन्तकाल तक, जब तक गंगा और यांग्त्सी की धारायें प्रवाहित हैं, अविच्छिन्न रहे—

धरा पर हमारे युगल देश प्यारे
गगन के तले, धीर सागर-सहारे
उभय—चीन-भारत—सुहृद बन पले हैं,
लिए हाथ में हाथ हरदम चले हैं।
मनश्चेतना और संस्कृति हमारी
रही एक-सी सुष्ठु, निर्मल, सँवारी।
विगत दो सहस्राब्द जीवन हमारा
भरित स्नेह-संसर्ग सम्पर्क प्यारा।।
रहे भेद भौतिक—शिखर, शैल, प्रान्तर!
रहा एक अविभिन्न रस-सिक्त अन्तर!!
प्रकृति-आभरण तुम विरल-सृष्टि शोभन!
पधारे, मिला पूर्ण-परिचय, खिला मन!!

तँग राजवंश के एक कवि द्वारा लिखित एक लय-बद्ध कविता 'कविता के सम्बन्ध में' की पंक्तियों के योग से लिखित।

चेन ली-फू द्वारा

चीनी गण-तंत्र के
३३वें वर्ष के पाँचव
मास में।

परिशिष्ट ३

(सर एस० राधाकृष्णन के सम्मान म दी गई चाय पार्टी के अवसर पर चीन की विद्वत्परिषद के अध्यक्ष डाक्टर चू चिया-हुआ का सन्देश——१०–५–१९४४।)

अपने देश में आये हुए सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत करने में हमें परम हर्ष और सम्मान का अनुभव हो रहा है। सर एस० राधाकृष्णन न केवल भारत में ही दर्शन-शास्त्र के एक महान् अधिकार-पूर्ण विद्वान् हैं बल्कि वह एक विश्व-विख्यात पण्डित हैं। वह न केवल भारतीय दर्शन-शास्त्र और धर्म के मान्य विद्वान् हैं, बल्कि पौर्वात्य और पाश्चात्य विचार-धाराओं के एक प्रथम कोटि के पंडित हैं। और इसके साथ ही साथ वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक सूक्ष्म-दृष्टि विद्यार्थी भी हैं।

(उनके अध्ययन काल और उनकी सिद्धियों-सफलताओं का विवरण देने के बाद उन्होंने कहा।):

भारत के साथ हमारे देश के सांस्कृतिक सम्बन्धों का इतिहास कई

हज़ार वर्ष लम्बा है; विशेषकर दर्शन-शास्त्र और धर्म-शास्त्र के क्षेत्र में हम अपने महान् पड़ोसी भारत के बहुत ऋणी रहे हैं। मातंग और गोभरण से लेकर इतनी बड़ी संख्या में भारत के विद्वान् भिक्षु समय-समय पर चीन आते रहे हैं कि इतिहास का कोई भी लेखा इन घटनाओं का पूर्ण विवरण नहीं दे सकता। अपने सम-सामयिक लोगों द्वारा उन सबका सम्मान किया गया और वे अनन्त भावी पीढ़ियों को अपनी ज्ञान-ज्योति देने में समर्थ हुए। उन्होंने विद्वत्समाज के सम्मुख सुन्दर आदर्शों की प्रतिष्ठा की और जनता के शिक्षकों का काम किया। उन यशस्वी बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा अनेक बौद्ध-ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा म अनुवाद किया गया। सत्य की खोज में भारत जानेवाले चीनी भिक्षु भी असंख्य थे। फाहियान और ह्वेन-त्सँग के आलेख भारतीय इतिहास के कुछ भूले अध्यायों को पूरा करते हैं। चेंग-आन छोड़ कर बौद्ध-सत्यों की खोज में भारत जानेवाले उन महाभाग भिक्षुओं में से दस प्रतिशत को भी भारत पहुँच सकने का सौभाग्य न प्राप्त हो सका और चीन वापस आ सकनेवालों की संख्या तो और भी कम थी। फिर भी, यह सब होते हुए भी, इन दोनों राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक समागम तनिक भी अवरुद्ध नहीं हो सका। इस युग में बौद्ध-ग्रन्थों के चीनी अनुवादों की संख्या १० हज़ार से भी ऊपर पहुँच गई। इनके साथ ही साथ विज्ञान और आयुर्वेद, कला और साहित्य सम्बन्धी अगणित ग्रन्थ भी चीनी भाषा में अनूदित हुए।

जैसा हम सब जानते हैं हैन और तँग राजवंशों के राज्य-काल चीन के इतिहास के स्वर्ण युग हैं। तथ्य तो यह है कि भारतीय संस्कृति का प्रवेश इस देश में हैन वंश के राज्यकाल में प्रारम्भ हुआ और भारतीय तथा चीनी संस्कृतियों का सम्मिलन तँग राजवंश के राज्य-काल म

अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। चीन के इतिहास में भारतीय संस्कृति के स्थान की महत्ता इस दृष्टि से आंकी जा सकती है। साथ ही साथ हम यह भी देखेंगे कि इन दोनों देशों के घनिष्ठ सम्पर्क ने दोनों ही देशों की समृद्धि में योग दिया है। इसलिए आधुनिक काल में इन दोनों देशों के बीच विद्यार्थियों के आदान-प्रदान का बन्द हो जाना न केवल इन दोनों सभ्यताओं के लिए एक दुर्भाग्य-पूर्ण बात है बल्कि समूची मानव-जाति पर उसका अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है।

लगभग २० वर्ष पहले डाक्टर टैगोर चीन पधारे थे। उनके आगमन ने चीन और भारत के बीच मैत्री का विकास करने के साथ चीनी संस्कृति के पुनरुज्जीवन में बड़ी सहायता दी है। जब से युद्ध प्रारम्भ हुआ है, भारतीय लोगों ने चीनी जनता को बहुत अधिक नैतिक सहायता दी है और इस प्रकार जो हमारी अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता कई सदियों से विच्छिन्न हो चुकी थी, फिर जीवित हो उठी है। यह महान् घटना इन दोनों संस्कृतियों के पुनरुज्जीवन और दोनों जातियों के पुनरुत्थान का संकेत करती है; इसीलिए यह मानवता के अरुणोदय की भी सूचना देती है।

जैसा हमने कहा है, सर राधाकृष्णन का भारतीय संस्कृति का ज्ञान अगाध है और उनकी व्याख्या अप्रतिम; इसलिए चीन में उनका आगमन इस देश में भारतीय संस्कृति के पुनः प्रवेश की भाँति है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए यहाँ हम स्वयं सर एस० राधाकृष्णन के शब्दों का उद्धरण दे सकते हैं। अपने निबन्ध 'हिन्दू-इज्म ऐण्ड दि वेस्ट'--(हिन्दू धर्म और पश्चिम) में उन्होंने कहा है: "भारत एक ऐसी सभ्यता का देश है जो अपने उद्भव में सम्भवतः उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन मिश्र की या सुमेरियन सभ्यता है पर

उनके विपरीत वह आज भी सजीव सक्रिय है और संसार की समूची मानव-जाति के लगभग पंचमांश के जीवन का आत्म-तत्त्व बनी हुई है। इसने सिद्ध-सन्तों और ऋषि मुनियों, कवियों और दार्शनिकों, कलाकारों और राजनीति-विशारदों को जन्म दिया है और आज भी ऐसी विभूतियों को जन्म दे रही हैं। इसने बौद्ध, जैन और सिख-मत जैसे विश्वव्यापी महत्त्व के आन्दोलनों को जन्म दिया है।" अपने विशिष्ट निबन्ध, "इण्डियन फिलासफी" (भारतीय दर्शन-शास्त्र) में आपने लिखा है कि भारत में दर्शन-शास्त्र तत्त्वतः आध्यात्मिक है और आध्यात्मिक प्रयोजन ही भारतीय जीवन में प्रधानता प्राप्त किये है; अन्तिम सत्य आध्यात्मिक सत्य हैं, और उन्हीं के प्रकाश में व्यावहारिक जीवन का शोधन करना है। श्री राधाकृष्णन परम्परागत भारतीय दर्शन-शास्त्र और धर्म-शास्त्र के यथातथ्य रूप की व्याख्या मात्र नहीं करते; उन्होंने आधुनिक भारत के नव जीवन को समृद्ध बनाने के लिए और अपने देश के दर्शन और धर्म का पुनर्निर्माण करने के लिए आधुनिक युग के दर्शन-शास्त्र और धर्म की तात्त्विक भावना को भी आत्मलीन करने की कोशिश की है। वह हिन्दू-धर्म के सुधारवादी दल में हैं। यद्यपि हिन्दू-धर्म और बौद्ध एक ही धर्म नहीं हैं, फिर भी बौद्ध-धर्म के सारभूत उपदेशों को हिन्दू-धर्म में अपना लिया गया है। यद्यपि चीन के सभी लोग बौद्ध नहीं हैं, फिर भी सामान्यतः बौद्ध-विचार और उपदेश अपना लिए गये हैं, और इसका यह अर्थ हुआ कि भारत के विचारों को चीन के बहुमत द्वारा अंगीकार कर लिया गया है।

भारतीय विचार-धारा और ज्ञान को सर एस० राधाकृष्णन ने पहले ही एक उल्लेखनीय देन दी है, इस देश में अपने अल्प प्रवास में यहाँ भी ज्ञान-क्षेत्र में वह एक नवीन प्रेरणा देंगे इसमें सन्देह नहीं है। चीन

को उनकी देन उतनी ही महान् होगी जितनी महान् देन कुछ वर्ष पहले डाक्टर टैगोर अपने चीन आगमन के समय दे गये थे।

अन्त में चीनी-भारतीय-सांस्कृतिक-समाज की ओर से मैं चीन और भारत के बीच मैत्री बढ़ाने पर बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि भारतीय और चीनी संस्कृतियों का सम्मिलन चिरस्थायी हो।

(हस्ताक्षर) डाक्टर चू चिया-हुआ।

चीन और भारत की प्राचीन संस्कृतियाँ महान् और उन्नत हैं, दोनों देशों के लोगों के बीच मैत्री का एक लम्बा इतिहास है और यह मैत्री उन आदर्शों पर आधारित है जो समूचे संसार के लिए कल्याणकारी हैं। इस मैत्री का प्रकाश पिछले कुछ हजार वर्षों में संसार के लिए अत्यन्त बहुमूल्य सिद्ध हुआ है। पुराने बीते युग में जब हमारी दोनों संस्कृतियाँ विकास-शील थीं और हमारे देश समृद्ध थे तब हमारी पारस्परिक मैत्री भी गम्भीर थी। यही युग वह समय था जब मानव-जाति परम सुखी थी। हम आशा करते हैं कि इस ऐतिहासिक दाय — पूर्वजों की इस देन की रक्षा और उसका सम्मान हम करेंगे और मानव-जाति को आज के दैन्य से बाहर निकाल कर आनन्दावस्था में ले जाने के लिए उस देन के प्रभाव को विकीर्ण करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेंगे। हमारे दोनों देशों के महात्माओं की यही कामना थी और हम उनकी कामना को पूरा करने में पीछे न हटेंगे।

इस उद्देश्य और पूर्ण सत्यनिष्ठा और सम्मान के साथ हम सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत करते हैं जो बहुत दूर से हमारे देश पधारे हैं।

—ताई चुआन-सीन,

परीक्षा समिति के अध्यक्ष।

१० मई, १९४४।

परिशिष्ट ४

(चीन की राष्ट्रीय सरकार के सेनापति जनरल लू चाओ, द्वारा धर्म पर विश्वास रखनेवालों के संघ के तत्वावधान में १२ मई सन् १९४४ को चुंगकिंग के मुसलमान उपाहार-गृह में सर एस० राधाकृष्णन् के सम्मान में अध्यक्षपद से दिया गया स्वागत भाषण।)

वास्तव में हमारे लिए यह बड़े हर्ष और आनन्द की बात है कि आज अपराह्न में चीन के धर्म-विश्वासियों के संघ के तत्वावधान में हम अपने विशिष्ट अतिथि, विख्यात भारतीय विद्वान और दार्शनिक, सर एस० राधाकृष्णन् का स्वागत कर रहे हैं, क्योंकि आज हमें उनके दर्शन के साथ-साथ उनका भाषण सुनने का भी सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

चीन का प्रतिरोध-संग्राम बहुत शीघ्र आठवें वर्ष में प्रवेश करेगा। इन पिछले वर्षों में चीन की जनता युद्ध-क्षेत्र में मानव-जाति की शान्ति और उसके सदाचार की रक्षा करते हुए दुर्द्धर्षता और ओजस्विता के साथ युद्ध करती आ रही है। यद्यपि अपने शत्रु से हम अनेक अर्थों में पिछड़े हैं, दुर्बल हैं फिर भी हम कभी परांगमुख नहीं होते। हम अपने सहृदय पड़ोसी भारत के प्रति उसकी महान् आध्यात्मिक और भौतिक सहायता के लिए बहुत अधिक आभारी हैं। जबसे सुदूर-पूर्व और समूचे संसार पर युद्ध की भयावनी आग फैली है तब से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अपने सामान्य शत्रु का सामना करते हुए शान्ति-प्रेमी राष्ट्र कन्धे से कन्धा मिलाकर एक हो जायँगे। लेकिन अपने भौगोलिक संसर्ग और धार्मिक तथा सांस्कृतिक समागम के कारण इन दोनों देशों, चीन और भारत, के बीच अधिक पारस्परिक सद्बोध और सहानुभूति सम्भव है। युद्ध-काल में दोनों के सौभाग्य और दुर्भाग्य

परस्पर सम्बन्धित हैं, और शान्ति स्थापित हो जाने के बाद समृद्धि और विपत्ति--दोनों में ही, दोनों एक दूसरे के साझीदार होंगे।

हम अपनी अन्तिम विजय की ओर जैसे-जैसे आगे बढ़ते जा रहे हैं वैसे ही सम्भव है अब भी ऐसे कुछ लोग हों जिन्हें इस बात का सन्देह हो कि चीनी राष्ट्र वास्तव में नितान्त शान्तिप्रिय है या नहीं। अब सर राधाकृष्णन् एक दार्शनिक और एक धार्मिक विश्वविद्यालय के उत्तरदायी संचालक के रूप में और एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो योरोप और अमरीका में विस्तृत भ्रमण कर चुका है, हमारे बीच उपस्थित हो कर और हमारे जातीय लोगों से मिल-जुल कर इस तथ्य की पुष्टि करेंगे। इस प्रकार धर्म-विश्वासियों का हमारा यह संघ ही हमारी एकता और शान्ति का प्रतीक है जिसमें इस देश के चार प्रधान धर्मों के अनुयायी--बौद्ध, मुसलमान-कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट—सम्मिलित होते हैं। सदियों से चीन के लोग उदार चेतना, स्वामिभक्ति, क्षमा, प्रेम, शान्ति और दयालुता में डूबे रहे हैं; अन्यथा इस प्रकार का संगठन शायद ही बन सकता हो। इस संघ का इतिहास बहुत छोटा है--एक वर्ष से कुछ ही अधिक, और इसका उद्देश्य रहा है चीन के इन प्रधान धर्मों के अनुयायियों के बीच मित्रता की अभिवृद्धि करना। यह चारों धर्म चीन के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गुणों से परिलक्षित होते हैं। इस संगठन के विशिष्ट उद्देश्य हैं धार्मिक स्वतंत्रता का सम्मान, आध्यात्मिक अनुशीलन पर जोर, सामाजिक सेवा का उपक्रम, राष्ट्रीय प्रतिरोध और पुनर्निर्माण की सहायता और अन्ततः विश्व-शान्ति की अभिवृद्धि।

इसलिए हमारी यह बड़ी कामना है कि हमारे विशिष्ट अतिथि आज कृपा-पूर्वक हमें अपनी टीकाओं और अपने उपदेशों से कृतार्थ करें और हम यह भी आशा करते हैं कि वे इस संस्था का परिचय उन संस्थाओं

से करा देंगे जिनके सम्पर्क में वह अपने देश या अन्य देशों में आयें।

चीन के अपने दौरे में सर एस० राधाकृष्णन् न केवल ज्ञान और प्रविधियों के क्षेत्र में महान् योग-दान देंगे बल्कि हर अवस्था में चीन की परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन भी करेंगे। स्वभावतः इन दोनों राष्ट्रों के भावी सहयोग में यह बहुत सहायक होगा। विशेष रूप से हमें आशा है कि धर्म के मामलों में अपने विशिष्ट अतिथि से हमें अमूल्य ज्ञान-लाभ होगा। आओ आज अपराह्न हम अपने-अपने प्याले ओठों में लगाये और इस सीधी-सादी पर मन को प्रसन्न करनेवाली चाय से अपने विशिष्ट अतिथि का स्वागत करें और कामना करें कि उन्हें सुन्दर स्वास्थ्य और अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हो।

चीन के धर्म-विश्वासियों के संघ द्वारा सर एस० राधाकृष्णन् की सेवा में समर्पित--

पुरातन देश—भारत-चीन से—सहचर परस्पर थे।
मधुरतम सांस्कृतिक सम्बन्ध सदियों तक निरन्तर थे।।
विभव में साथ हँस खेले, विपद् झेली सदा मिल कर
विपति सम्पत्ति के साथी सुहृद हम हैं, निरन्तर थे।।

हुआ प्रारम्भ जब से यह द्वितीय महासमर जग में,
बढ़े हम मित्र-राष्ट्र बने, भयानक युद्ध के मग में।।
समर-संलग्न हैं हम, लक्ष्य मानव-जातिका मंगल,
व अपनी मुक्ति औ स्वाधीन-जीवन-सिद्धि इस जग में।।

हमारी मित्रता दृढ़तर हुई, इस देश आप आए।
सुमन सम्मान के भवदीय स्वागत में ये बिखराए।।
यहाँ के बौद्ध, मुसलिम, प्रोटेस्टैण्ट व कैथोलिक मिलकर
सबों ने एक स्वर से गीत स्वागत के हैं यह गाए।।

पूर्ण सत्य-निष्ठा से, हृदय की गहनतम
भावना से आओ हम प्रार्थना करें पुनीत—
देव-देव! पावन-परम धर्म-ज्योति फैले
वसुधा धवल-धन्य बन जाय ज्योति-स्फीत।।
वर दो कि देव! धरा-धाम बन जाय स्वर्ग
दिव्य देव-पुत्र बने मनु-पुत्र मन जीत।।
और स्नेह-सिक्त बन्धु-भावना में बंध जाय
मानव से मानव, हृदय गाए पुण्य-गीत।।

परिशिष्ट ५

सदियों से बौद्ध-धर्म व्याप्त है चीन में।
आज कन्फ्यूशियन औ हिन्दू विचार-धारा
घुल-मिल एक हो रही हैं जन-जीवन में।
त्रस्त आज मानवता है
विपुल विषमता से और संघर्ष से।
इस वात्याचक्र में
भवदीय आगमन देश में हमारे
शुभ-शान्ति औ अनन्त-सुषमा का जन्मदाता हो।

[परम पुनीत महास्थविर ताई सू द्वारा सर एस० राधाकृष्णन को त्सिन-युन पहाड़ियों पर समर्पित कविता।—श्री० वाई० एच० कू द्वारा अनूदित (अंग्रेजी में)]

परिशिष्ट ६

शिक्षा-मन्त्रालय, चुंगकिंग, चीन।
चीन में सर एस० राधाकृष्णन के शुभागमन पर:—

एक बार चीन देश आए वह कृपागार।
भेंट भी न जिन से हुई थी कभी एक बार
भाल पर मैत्री का तिलक उन्होंने दिया;
अपना बनाया उन्हें, अपना बताया उन्हें।
चीन के हृदय के स्पन्दन की अनुभूति
उनने की; और दशा चीन के मन की
मन ही मन जान गए, और निज मित्र से
बोले, 'बन्धुवर! जहाँ साधु और सन्त हैं
सुखद प्रकाश वहाँ नित्य-नव फूटेगा
संस्कृति का, जीवन का—यह ध्रुव-सत्य है।'

हमारा जीवनोपयोगी एवं बालोपयोगी साहित्य